भक्ति काव्य का एक अनुपम ग्रन्थ

श्रीमन्महाराज रघुराजसिंह जूदेव विरचित

जगन्नाथ-शतक

व्या[illegible]कार

डॉ. [illegible]

प्रकाशक

वेद वाणी वितानम्, प्राच्य विद्या शोध संस्थानम्

रघुराजनगर, कोलगवां, सतना (म.प्र.)

भक्ति काव्य का एक अनुपम ग्रन्थ

श्रीमन्महाराज रघुराज सिंह जूदेव विरचित

जगन्नाथ-शतक

व्याख्याकार

डॉ. सुद्युम्न आचार्य

व्याकरणाचार्य, M.A. (अष्टस्वर्णपदकविजेता) D. Phil.

रीडर— स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

मु. म. टाउन P.G. कालेज

बलिया (उ. प्र.)

प्रकाशक—
वेद वाणी वितानम्
प्राच्य विद्या शोध संस्थानम्
कोलगवाँ, सतना (म. प्र.)

प्रथम बार— १०००

मूल्य— १५/- रु. मात्र

मुद्रक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

भूमिका

विन्ध्यभूमि की नैसर्गिक सुषमा के बीच निवास करने वाले लोग अति प्राचीन काल से श्री राम तथा श्रीकृष्ण से जुड़े रहे हैं। रामायण युग में श्रीराम यहाँ के प्रफुल्ल पंकज खण्डों को, प्रसन्नसलिला सरिताओं को, महामेघनिभ रमणीय अरण्यों को देखकर तथा मधुर मयूर विरुतों को सुनकर राजप्रासाद की याद भूल जाते हैं[१]। यहीं पर वे भारतीय संस्कृति के अक्षय्य तन्तुओं का सृजन करते हैं। यहाँ के रहने वाले लोग उनसे प्रेम, वात्सल्य के बन्धन में बँध कर, उनसे धर्म के अमर सूत्र को प्राप्त करके युगों युगों तक परवर्ती पीढ़ी के लिये मानों उनसे तादात्म्य बनाए रखने का सन्देश देते हैं।

महाभारत युग में भी इस करूष तथा चेदि देश के लोग श्रीकृष्ण का कृपाप्रसाद प्राप्त करने के लिये सुदूर कुरुक्षेत्र की यात्रा करते हैं। 'जिधर श्रीकृष्ण हैं उधर धर्म है, जिधर धर्म है उधर विजय है' इसे पूरी तरह स्वीकार करते हुए पाण्डवों के पक्ष में युद्ध करते हैं[२] तथा श्रीकृष्ण के अमृतोपम गीतोपदेश का साक्षात् श्रवण करते हैं। आज यह कौन जानता है कि श्रीकृष्ण के द्वारा महान् भारत की स्थापना के उस महान् उद्योग में कितने करूषवासी लोगों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था!! यह भी कौन जान सकता है कि आधुनिक बघेल खण्ड के किन पूर्वजों ने गीता के श्रवण के पश्चात् उसे निखिल संस्कृति का सूत्र बनाते हुए अपने को धन्य बनाया था!!

---

१. **फुल्लपंकजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च।**
---रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च।
—रामायण ८.१४-१५ अरण्यकाण्ड।

२. **The Pandavas were aided by the matsyas, Cedis, Karushas.** ***Ancient Indian historical tradition, F.E. pargiter, page 283.*** **Karushas occupied the Karush country, the region round the modern Rewa and eastwards to the R. Sone, Page 225**

इतिहास विशाल काल खण्ड की प्रत्येक घटना को अपने अंक में समेटे नहीं रह सकता। उसका बहुत कुछ कराल काल के द्वारा चुराया जाता रहता है। पर इतना स्पष्ट है कि उन पूर्वजों ने जो सूत्र विकसित किये, उनका यहाँ के लोगों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यहाँ के इतिहास का यह मामूली आश्चर्य नहीं कि श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के पश्चात् प्रत्येक कालखण्ड में प्रत्येक पीढ़ी ने उनके ही गीत गाए, उनसे ही अपना तादात्म्य बनाया।

यद्यपि महाभारत के पश्चात् बौद्ध युग से लेकर अनेक शताब्दियों तक यह भू-भाग मगध देश के राजाओं के अधीन रहा है। मौर्य युग, शुंग युग तथा गुप्तवंशी राजाओं के युग में भी हम इस प्रदेश को पूर्णतः या करद राज्य के रूप में मगध के आधिपत्य में पाते हैं। पर इतने सुदीर्घ काल तक मगध के आधिपत्य में रहने के पश्चात् भी यह प्रदेश उनसे कभी उल्लेखनीय सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाया। यहाँ के लोगों के मन तथा मस्तिष्क उस समय भी अवध तथा व्रज के साथ जुड़े रहे। उनके तार वहाँ के राजाओं की भक्ति तथा उनके गुणों का वर्णन करने के लिये ही झंकृत एवं स्पन्दित होते रहे। इतिहास के सभी युगों में लोगों ने अवधविहारी तथा व्रजविहारी बनना पसन्द किया। पर 'मगधविहारी' नाम तो कभी सुना भी नहीं गया! बौद्ध युग में भी इन लोगों ने दिगम्बर की अपेक्षा पीताम्बर को महत्त्व दिया तथा मुस्लिम शासन काल में भी इस्लाम की अपेक्षा इस लाम के मानिन्द गोविन्द के गेसू को ही अपने हृदय में स्थान दिया[१] !!

भाषा का भावों के साथ अतिघनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आधुनिक बघेल खण्ड के लोगों की इन भावनाओं के परिणाम स्वरूप यहाँ अवध की भाषा अवधी को अपनाया गया। अवधी के प्रयोग, लोकोक्तियाँ, मुहावरे यहाँ के लोगों में रच बस गए। यहाँ अवधी से प्रभावित बघेली में साहित्य

---

१. लाम के मानिन्द हैं गेसू मेरे घनश्याम के।
हैं वही काफिर की जो बन्दे नहीं इस लाम के।

यह "हैं वही काफिर कि जो बन्दे नहीं इस्लाम के" इसे पूरा करने के लिये हिन्दू कवि द्वारा प्रस्तुत समस्यापूर्ति है।

सृजन की परम्परा रही, जो यहाँ के विद्वानों के वैदुष्य से शताब्दियों तक निरन्तर प्रवाहित होती रही। बघेली भाषा की इस साहित्य-परम्परा ने ही भाषा जगत् में बघेली की अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। इसी परम्परा को प्रकाशित करने के लिये बघेली के विशिष्ट ग्रन्थ जगन्नाथ शतक का प्रकाशन किया जा रहा है।

ग्रन्थ के लेखक— प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक विद्वान् नरेशों की परम्परा में उत्पन्न स्वयं विद्वान् नरेश महाराज रघुराज सिंह हैं। राजत्व के साथ-साथ आपका गम्भीर वैदुष्य अपने आप में अभूतपूर्व है। भारतीय इतिहास में ऐसे नरेशों की संख्या उँगलियों में गिनने लायक है जो राजा होने के साथ-साथ मौलिक रचनाकार भी हों। यह परम प्रसन्नता का विषय है कि इन्होंने अपनी विलक्षण काव्यप्रतिभा से बघेली हिन्दी साहित्य तथा संस्कृत साहित्य के भण्डार को समृद्ध बनाया है। महाकवि कालिदास का यह वचन इनके लिये सर्वथा सत्य है—

नितान्तभिन्नास्पदमेकसंस्थम्
अस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।

—रघुवंश ६.२९

अर्थात् सर्वथा भिन्न स्थानों में रहने वाली श्री और सरस्वती उनमें एक साथ निवास करती थीं। संस्कृत तथा हिन्दी में आपकी रचनाएँ बघेलखण्ड की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में रही हैं। एक यथार्थपरक आकलन के अनुसार संस्कृत में आप महाकवि जयदेव के तथा हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के समकक्ष ठहरते हैं। आपकी भाषा में लालित्य तथा विषय में गाम्भीर्य एक साथ दिखाई देता है।

ग्रन्थ रचना का काल— रीवा राज्य के तत्कालीन सेनापति लाल बल्देव सिंह ने लिखा है कि 'यात्रा प्रारम्भ करने के दिन से ही उन्होंने संस्कृत ललित छन्दों में जगन्नाथ जी की स्तुति आरम्भ किये। वहाँ पहुँचते-पहुँचते 'जगदीश-शतकम्' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ। पुरी पहुँच जाने पर श्रीमान् ने भाषा प्रेमियों के चित्त विनोदार्थ पुनः श्री जगन्नाथ जी की वन्दना ललित भाषा में छन्दों में किया और इसका नाम

'जगन्नाथशतक' रखा।' जगन्नाथ शतक के अन्त में रचना का संवत् १९१४ दिया है। इससे स्पष्ट है कि महाराज ने 'जगदीशशतकम्' इस संस्कृत रचना के पश्चात् पुरी प्रवास काल में सन् १८५७ में इस ग्रन्थ को पूर्ण किया था।

यह ग्रन्थ मूलमात्र सर्वप्रथम श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुका है। पुनः भारतभ्राता प्रेस रीवा द्वारा भी इसका मूलमात्र प्रकाशन हो चुका है। पर व्याख्या, अनुशीलन आदि के साथ इसका सर्वप्रथम प्रकाशन किया जा रहा है। पिछले संस्करणों में प्राचीन परम्परा के अनुसार शब्द से शब्द को मिला दिया गया था। इस संस्करण में शब्दों को अलग-अलग करते हुए पुनर्लेखन भी बहुत श्रमसाध्य कार्य रहा है।

ग्रन्थ का वर्ण्य विषय— प्रस्तुत ग्रन्थ ईश्वरभक्तिविषयक है। इसमें ईश्वर के महान् गुणों का तथा साथ ही मानव के विविध दोषों का स्पष्ट वर्णन है। ईश्वर के गुणों के चिन्तन से अपने अन्दर उन गुणों के आधान की प्रेरणा मिलती है। साथ ही अपने दोषों की सहज स्वीकृति से उनसे मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त होता है। सामान्यतः मानव अहंकारवश अपने दोषों को नहीं देखता। यदि वे दिख भी जावें तो उन्हें अनेक उपायों से ढकने का प्रयत्न करता है। इससे उसके दोष कभी दूर नहीं हो सकते। पर यदि कोई मनुष्य अपनी पूरी इमानदारी से उन दोषों को देख सके तथा उन्हें स्वीकार कर सके तो वह उसी क्षण उनसे दूर होने लगता है। मकान में लगी आग दिख जावे तो उससे बचने का उपक्रम तुरन्त ही प्रारम्भ हो जाता है। पर यदि आग दिखे ही नहीं तो उससे बचने का कोई उपाय नहीं!!

भक्ति द्वारा आत्मसमर्पण उस विराट् सत्ता से मिलने का सबसे अच्छा उपाय है। मनुष्य अपना सब कुछ समर्पित करके सब कुछ पा सकता है। उसके लिये उस विराट् सत्ता से मिलने के उपाय दो ही हैं— या तो वह पूरी तरह अहंकार तथा ममकार से मुक्त हो या विश्व की सब वस्तुओं के साथ समान रूप से अहंकार तथा ममकार बना ले—

अहन्ताममतात्यागः कर्तुं यदि न शक्यते।
अहन्ताममताभावः सर्वत्रैव विधीयताम् ।।

अपने दोषों के स्वीकारपूर्वक भक्ति द्वारा इन दोनों उपायों की ओर उन्मुख होना सम्भव है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अपनी अल्पज्ञता का स्पष्ट वर्णन है, अपने अपराधों की सहज स्वीकृति है, अपने को ऊपर उठाने की विनम्र प्रार्थना है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि एक ऐसा कवि जिसके पास अहंकार बढ़ाने के सभी साधन मौजूद हों, उसके द्वारा इस प्रकार की रचना की गई है।

ग्रन्थ का काव्य सौन्दर्य— भक्तिपरक इस ग्रन्थ का अद्भुत काव्य सौन्दर्य है। निश्चय ही इस काव्य का प्रणेता रससिद्ध कवि है। इसकी लालित्यपूर्ण शब्द योजना, नए परिवेश में छन्द अलंकारों का प्रयोग, भक्तिरस में पगा हुआ अर्थगाम्भीर्य— यह सब सहृदय पाठक को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। इसमें वे सभी गुण वर्तमान हैं जो किसी भी उत्कृष्ट काव्य के लिये अपेक्षित हैं।

यहाँ प्रयुक्त अलंकार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

अनिल के अनिल अनल के अनल सोई......छन्द १२

इस प्रकार के प्रयोगों की तुलना 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' आदि श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१३ के श्लोकों से की जा सकती है। यहाँ अनिल तथा अनल का यदि उसी अर्थ में दो-दो बार प्रयोग हो तब तो यह साहित्य शास्त्र के अनुसार 'पुनरुक्त दोष' के अन्तर्गत आवेगा। व्याकरण शास्त्र के अनुसार भी षष्ठी विभक्ति के प्रयोग में एक ही अर्थ वाले एक ही शब्द का दो बार प्रयोग अशुद्ध है। पर यहाँ 'अभिधा वृत्ति से एक अर्थ होने पर भी 'तात्पर्य वृत्ति' से अलग-अलग अर्थ हैं। अतः यह दोष नहीं, अपितु 'लाटानुप्रास' नामक अलंकार की श्रेणी में आता है। यहाँ प्रथम 'अनिल' का अर्थ सामान्य हवा है। पर दूसरे अनिल का अर्थ 'उस हवा की समूची क्षमता, समग्र सामर्थ्य, उसकी उस रूप में बने रहने की सम्पूर्ण कारणता' यह है। इस प्रकार के तो श्री जगन्नाथ ही हैं। सामान्य हवा की विशाल शक्ति के रूप में परिचालित होने की सम्पूर्ण क्षमता श्री जगन्नाथ की ही है, यही इसका गूढ भावार्थ है। यहाँ इस तथ्य का आलंकारिक रूप से सहज वर्णन कितना मनोरम है!

अन्य उदाहरण के लिये यह श्लोक प्रस्तुत है—

सूर को विशोषन विपोषण मयंकहू को ....छन्द २६

यहाँ सहज ही अति सुन्दर शब्दों में प्रतिवस्तूपमा अलंकार की छटा बिखेरी गई है! यहाँ 'सूर को विशोषन' आदि अप्रस्तुत उपमान है तथा 'श्री जगन्नाथ द्वारा भक्तों का उद्धार करना' प्रस्तुत उपमेय है। जिस प्रकार सूर्य का शोषण करना, चन्द्रमा का पोषण करना आदि कार्य हैं, उसी प्रकार श्री जगन्नाथ का भक्तों का उद्धार करना कार्य है। यहाँ 'इव' आदि का प्रयोग नहीं है। उसका व्यंजना से बोध होता है। साथ ही यहाँ उपमा का वर्णन अलग-अलग स्वतन्त्र उपवाक्यों द्वारा किया गया है। अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

यहाँ अनन्यता का वर्णन करने के लिये इससे बढ़िया अलंकार शायद ही मिल सके। सूर्य का कार्य शोषण करना है— इस विश्व में शोषण के लिये ऊर्जा का स्रोत अन्य कोई नहीं है। सभी प्राणी ऊर्जा के लिये सूर्य को अनितरसाधारण मानते हैं। ठीक इसी प्रकार भक्तों के उद्धार के लिये श्री जगन्नाथ के अलावा अन्य कोई नहीं। यहाँ वे असाधारण, एक मात्र उपाय हैं। यह अनन्यता इस अलंकार के माध्यम से सर्वाधिक सुन्दर रीति से प्रकट की जा सकी है।

श्लोक ४६ से लेकर ७१ तक वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण का क्रम से वृत्त्यनुप्रास में प्रयोग अपने आप में नितान्त सुन्दर है। इस प्रकार कोमल कान्त पदावली से परिपूर्ण यह काव्य अतिमनोरम बन पड़ा है।

ग्रन्थ की व्याख्या— किसी भी काव्य की व्याख्या अपने आप में एक दुष्कर कार्य होता है। यदि उसके शब्दार्थ पर ध्यान दें तो उसके सुन्दर भाव छूटे जाते हैं। यदि अनुवाद में सुन्दर भावों को प्रकट करने लगें तो शब्दार्थ के साथ न्याय नहीं हो पाता। इस 'असिधाराव्रत' में मैंने शब्दब्रह्म के उपासक होने के नाते शब्दार्थ पर अधिक ध्यान दिया है। उसके सुन्दर भावों को तो पाठकगण उन मूल श्लोकों से ही प्राप्त कर सकेंगे।

ग्रन्थ का प्रकाशन— प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रमुख उद्देश्य इस उत्कृष्ट कृति को सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकाश में लाना है। इस भूमि में साहित्य, संगीत, कला आदि के क्षेत्रों में उत्कृष्ट ग्रन्थों का

प्रणयन हुआ है। यहाँ की धरती ने उच्च कोटि के विद्वानों को जन्म दिया है। पर यह इस बघेलखण्ड की विशेषता जैसी जान पड़ती है कि यहाँ उन विद्वानों या उनके उत्कृष्ट कार्यों के प्रकाशन या प्रसिद्धि के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं होता है। यहाँ उत्पन्न संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट गद्यलेखक बाणभट्ट की प्रसिद्धि कन्नौज में सम्राट् हर्षवर्धन के दरबार में ही हो पाती है। यहाँ जन्में संगीत के सर्वोच्च विद्वान् तानसेन का सुयश सम्राट् अकबर के दरबार में ही फैल पाता है। पर जिन लोगों की प्रसिद्धि अन्य स्थानों के लोग नहीं करते, उन्हें यहाँ प्रसिद्धि नहीं मिल पाती। बाणभट्ट के समकक्ष ही वैदुष्य और पाण्डित्य प्राप्त करने वाले महाकवि 'गोविन्द भट्ट' का उदाहरण हमारे सम्मुख है। सम्राट् अकबर ने इन्हें अपने समय का कालिदास निरूपित करते हुए 'अकबरी कालिदास' की मूल्यवान् उपाधि से विभूषित किया था। पर इस कवि का बघेल खण्ड से प्रेम देखिये। इसने सम्राट् अकबर की प्रशस्ति में नहीं, अपितु तत्कालीन बघेल राजा महाराज रामचन्द्र की प्रशस्ति में 'रामचन्द्रयशः प्रबन्ध' नामक अद्भुत ग्रन्थ लिखा था। पर आज इन्हें कितने लोग जानते हैं। बघेलखण्ड के सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक तथा कवि पद्मनाभ मिश्र, सर्वोच्च कोशकार भानुजी दीक्षित के ग्रन्थों के प्रकाशन की आज किसे चिन्ता है।

ऐसी दशा में इस संस्थान का प्रयत्न यह है कि बघेलखण्ड की धरती में उत्पन्न सम्पूर्ण हिन्दी, संस्कृत साहित्य को व्याख्या आदि के साथ प्रकाशित किया जाय। यह सुखद है कि इसके प्रथम पुष्प के रूप में जगन्नाथ शतक का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के 'अनुशीलन' का प्रमुख उद्देश्य बघेली की महनीयता तथा विशिष्टता को प्रकाश में लाना है। इसमें सन्देह नहीं कि इस देश की अवधी, भोजपुरी आदि भाषाओं ने वैदिक प्रयोगों से लेकर परवर्ती अनेक मूल्यवान् रूप अपने में सुरक्षित रखे हैं। इस क्रम में बघेली ने भी यह मूल्यवान् कार्य किया है। यहाँ इस छोटे से ग्रन्थ में प्रोक्त कुछ शब्दों के 'अनुशीलन' के द्वारा यह दिखाया गया है कि बघेली ने स्वयं अनेक शब्दों तथा रूपों की सुरक्षा की है। इससे परवर्ती शोधों में अन्य भाषाओं के लिये इसकी देन को खोजने में सुविधा प्राप्त हो सकती है।

अनेक स्थानों पर 'तुलना' के द्वारा यह दिखाया गया है कि इसका कथ्य प्राचीन होने पर भी शिल्प सर्वथा नवीन है। साथ ही उसी लेखक के द्वारा उसी भाव का संस्कृत-लेखन किसी भी दशा में मौलिकताविहीन नहीं है।

धन्यवाद-प्रकाशन— इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये मुझे *महाराज मार्तण्ड सिंह जूदेव चैरिटेबल ट्रस्ट* से २,०००/- रु. का प्रशंसनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिये मैं हृदय से आभारी हूँ। किला, रीवा के कंट्रोलर महोदय माननीय *श्री रमाशंकर मिश्र* में मैंने साहित्य के प्रति गहरी रुचि तथा इसकी सुरक्षा के विषय में गम्भीर आस्था देखी है। इस पुस्तक की छायाप्रति भी मुझे उनके सौजन्य से प्राप्त हुई है। अतः मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

माननीय *श्री स्वतन्त्रदेव जी महाराज,* इलाहाबाद ने इस प्रकार के कार्यों का भली प्रकार मर्म समझते हुए मुझे इसके लिये सदा प्रोत्साहित किया है। अतः मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

मेरी सहधर्मिणी *श्रीमती ऊषा रानी* एम. ए. (हिन्दी), बी. एड. ने बड़ी सूझ बूझ के साथ कुछ शब्दों के अर्थ सुझाए हैं। मेरा आशीर्वाद है कि वे सदा इसी प्रकार सामाजिक और साहित्यिक कार्य करते हुए जीवन में यश और सम्मान प्राप्त करती रहें।

—व्याख्याकार

शुभकामना

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि श्रीमन्महाराज रघुराज सिंह जूदेव की सर्वोत्तम भक्ति कृति 'जगन्नाथ शतक' का प्रकाशन हो रहा है तथा 'जगदीश शतकम्' के प्रकाशन की योजना है। मैंने इन दोनों पुस्तकों की छायाप्रति प्रकाशन के लिये डॉ. सुद्युम्न आचार्य, सतना निवासी को सहर्ष प्रदान की है।

रमाशंकर मिश्र
वर्किंग ट्रस्टी
महाराज मार्तण्ड सिंह जूदेव चेरिटेबल ट्रस्ट
फोर्ट, रीवा (म. प्र.)

अथ जगन्नाथ-शतक

कवित्त

सतचिदानन्दरासी दिव्यगुणभासी देव
जासु पद कोटि काशी कल्मषविनाशी है।
जगत प्रकासी जग अंतर को वासी वेस
जाकी भक्ति खासी कलिकाल में किलासी है।
भनै रघुराज मुनि मानस प्रवासी मंजु
कृत्य अघ विपिन की दाहन दवासी है
माया जासु दासी दीन दासन उधार आसी
मोंहि तो अधार नीलाचल को निवासी है।।१।।

भाषार्थ

जो सत् चित् आनन्द की राशि अर्थात् खान हैं, जो देव दिव्य गुण से प्रकाशित हैं, जिनके चरण करोड़ों काशी के समान तथा पाप का नाश करने वाले हैं, जो जगत् का प्रकाश करने वाले जिनका वेश अन्तः में निवास करने वाला है, जिनकी विशेष भक्ति कलिकाल में दुर्ग के समान व्यापक है, (कवि) रघुराज कहते हैं कि वे मुनियों के मानस में सुन्दर निवास करने वाले हैं। वे मनुष्यों के पाप कृत्य के लिये जंगल की जलाने वाली अग्नि के समान हैं। माया जिनकी दासी है तथा जो दीन और दासों का उद्धार करने वाले हैं, वे ही नीलाचल में निवास करने वाले मेरे आधार हैं।

क्षमा है क्षमासी कृत्य सुर सरितासी स्वच्छ
मन्द मुख हाँसी चारुचन्द्र चन्द्रिकासी है।
भक्त रिपुत्रासी ब्रजवनिताविलासी तेज-
वंतन विभासी देहकान्ति यमुनासी है।
भनैं रघुराज यम फाँसी की विनाशी नाथ
दीनन हुलासी आदि अनघ अनासी है।
दासन सुपासी पद सेवती रमासी जासु,
मोहिं तो अधार नीलाचल को निवासी है।।२।।

भावार्थ

जिनकी क्षमा धरती के समान है, जिनके कार्य गंगा के समान स्वच्छ, जिनका मुख मन्द हास्य से शोभित चन्द्रमा की चाँदनी के समान है, जो भक्तों के शत्रुओं को कष्ट देने वाले हैं तथा व्रज की गोपियों को सुख देने वाले हैं, जो तेज वालों को प्रकाशित करने वाले हैं तथा जिनकी देह की कान्ति यमुना के समान है, (कवि) रघुराज कहते: हैं कि वे नाथ यम की फाँसी का नाश करने वाले हैं। वे दीनों को प्रसन्न करने वाले हैं, वे सदा निष्पाप तथा अनश्वर हैं। उनके चरणों की सेवा रमा करती हैं तथा वे (चरण) सुखदायी हैं। वे ही नीलाचल में निवास करने वाले मेरे आधार हैं।

आप तो हैं नाथ मैं अनाथ सब भाँतिन सों
आप तो हैं सत्य दीन के दयालु दान मैं।
स्वामी आप सांचे मै तो सेवक हों सर्वदा को
आप दिव्य गुणन के सिन्धु गुनिगणन मैं।
भाषै रघुराज यदुराज करुणा के सिन्धु
कीजै करुणा को, क्रूर कठिन मलीन मैं
मैं तो अधमेश आप अधम उधारन हैं
पावन प्रवीण आप पतित प्रवीन मैं ।।३।।

भावार्थ

आप नाथ या पालक हैं और मै सब प्रकार से अनाथ हूँ; आप सत्य, दीन के दयालु हैं, मैं दिया गया दान हूँ। स्वामी, आप सत्य हैं पर मैं सदा सेवक हूँ। आप दिव्य गुणों के सिन्धु हैं, मैं उन गुणों को गिनने वाला हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि यदुराज! आप करुणा के सिन्धु हैं, आप करुणा कीजिये। मैं क्रूर कठोर तथा मलिन हूँ। मैं तो अधमों का स्वामी हूँ, पर आप अधमों का उद्धार करने वाले हैं। आप पवित्र करने में कुशल हैं, पर मैं पतित होने में कुशल हूँ।

सिद्‌धि ऋद्‌धि निद्‌धि सिद्‌ध वृद्‌ध वृद्‌धि सेवाजेती
जगत प्रसिद्‌ध तिनहुँ में मन देहों ना।
शंभु औ स्वयंभु शक्र कारज समर्थ सबै
तदपि तिनहूंको भरोस कछू लेहों ना।
तिरिया को तेल एक बार ही चढ़त जग
ताते रावरे के पद छोंडि कहुँ जैहों ना।
स्वादले सुधा को विष मुख में न देहों नाथ
रावरे कहाय दूसरे को मै कहैंहौं ना।।४।।

भाषार्थ

सिद्‌धि, सम्पत्ति, निधि में तथा जगत् में प्रसिद्‌ध सिद्‌ध और वृद्‌धों की बढ़ती के लिये जो सेवा है, उसमें मन नहीं लगाता। शम्भु, स्वयम्भु, इन्द्र सभी कार्यों में समर्थ हैं। तो भी मैं उनका भी कोई भरोसा प्राप्त नहीं करता। विश्व में स्त्री को तेल एक बार ही चढ़ता है। अतः आपके चरणों को छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। हे नाथ! मैं अमृत का स्वाद लेकर विष को मुख में नहीं दूँगा। आपका कहाने के बाद मैं दूसरे का नहीं कहा जाऊँगा।

अनुशीलन

विवाह के समय स्त्री को तेल चढ़ाने की बड़ी शुभ विधि मानी जाती है। यह आनन्द का प्रतीक अवसर एक बार ही आता है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन में कभी एक आध बार आनन्द आने पर भी अन्य समय तो कष्ट ही है। इसलिये उनसे त्राण पाने हेतु कवि ने जगन्नाथ के चरणकमल न छोड़ने की बात कही है।

दिव्य गुण दिव्य रूप दिव्य लीला दिव्य धाम
दिव्य पारषद वृन्द दिव्य अस्त्र भ्राजै है।
दिव्य शिर मोर दिव्य कुंडल कपोलन में
दिव्य वनमाल दिव्य कौस्तुभ विराजे है।
दिव्य पट पीत दिव्य नूपुर चरण चारु
दिव्य बाहु अंगद कटक कर छाजै है।
दिव्य कृपा कोर जगदीशजू की दीनन पै,
भलकै भरोस जासु दीन रघुराज है।।५।।

भाषार्थ

आपका दिव्य गुण, दिव्य रूप, दिव्य लीला, दिव्य आवास, दिव्य सभासद् लोग तथा दिव्य अस्त्र प्रकाशित हो रहे हैं। सिर में दिव्य मौर, गालों में दिव्य कुण्डल, दिव्य वनमाला तथा दिव्य कौस्तुभमणि विराज रही है। दिव्य पीला वस्त्र, चरणों में सुन्दर, दिव्य नूपुर, हाथ में दिव्य अंगद अर्थात् कंकण तथा कलाई में दिव्य कड़े छाए हैं। आप जगदीश जी की दीनों पर दिव्य कृपा लेश प्राप्त होवे। जिनके भाल अर्थात् कन्धों के भरोसे पर दीन (कवि) रघुराज हैं।

सजल जलदश्याम वपुष विराजमान
अमल कपोलन पै अलक छटा छई।
अर्धशशि भाल तापै तिलक रसाल राज
नैनन विशाल सब काल करुणा ठई।
भ्रुकुटि विलास शुभ श्रुति के समीप ही लों
मन्द मुस्क्यानी मुख महामाधुरीमई
कृपा ते कलित कमला के कंत की कटाक्ष
रघुराज ऐसे दीनदासन अभै दई।।६।।

भाषार्थ

जलपूर्ण मेघ के समान श्याम शरीर वाले (श्रीकृष्ण) विराज रहे हैं, जिनके पवित्र गालों पर केशों की छटा छाई है। अर्धचन्द्र सदृश मस्तक पर आम्र सदृश तिलक हैं तथा विशाल नेत्र हर समय करुणा करते हैं। सुन्दर श्रवण के समीप भ्रुकुटि विलसित हैं। आपका अत्यन्त माधुर्य से परिपूर्ण मुख मन्द मुस्कान बिखेर रहा है। कमला के कान्त आपका कटाक्ष कृपा से परिपूर्ण है। आप (कवि) रघुराज जैसे दीन तथा दासों को अभय प्रदान कीजिये।

परब्रह्म परधाम परगति परतेज
परलीला पररूप पराशक्तिधारी है।
परमचरित्र त्योंहि परम विचित्र कला
परम सुयश रघुराज सुखकारी है।
परम कृपा को रूप परम प्रभा अनूप
पर धर्म जप भव कूप ते उधारी है।
परम पतित को सो पावन करनवारो
ले है सुधि मेरी नीलाचल को बिहारी है।।७।।

भाषार्थ

आप परब्रह्म, उच्च धाम वाले, अचिन्त्य गति तथा तेज वाले, सर्वोच्च लीला, सर्वसुन्दररूप तथा अनन्त शक्ति धारण करने वाले हैं। जैसा आपका उत्कृष्ट चरित्र है वैसी ही अत्यन्त विचित्र कला है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि आपका परम सुयश सुखकारी है। आपका परम कृपापूर्ण रूप तथा उत्कृष्ट अनुपम प्रभा परम धर्म जप के द्वारा संसाररूपी कूप से उद्धार करने वाली है। परम पतित को पवित्र करने वाले नीलाचल में विहार करने वाले मेरी सुध लेंगे।

कौरव सभा के मध्य पाइके सुयोधन को
शासन दुशासन न धर्म कछु हेरी है।
द्रुपदसुता को गहि केश ल्यायो वरवश
न बार्‌यो द्रोण भीष्म पाण्डुपुत्र धर्म वेरी है।
करत विगत पर त्रात दूजो दीस्यो नाहीं
हा गोविन्द द्रौपदी उठाई कर टेरी है।
राख्यो रघुराज मरजाद धाय द्वारका ते
सोई जगन्नाथ हाथ आज आज लाज मेरी है।।८।।

भाषार्थ

कौरवों की सभा के बीच दुर्योधन को प्राप्त करके दुःशासन ने शासन तथा धर्म को कुछ नहीं समझा। उसने द्रुपद की पुत्री द्रौपदी को पकड़ कर जबर्दस्ती उसके केश पकड़ लिये। उस समय द्रोण, भीष्म तथा पाण्डु पुत्र ने भी मना नहीं किया तथा धर्मवैरी बने। उसने उसे वस्त्रविहीन किया, उस समय कोई दूसरा रक्षा करने वाला नहीं दिखाई दिया। तब द्रौपदी ने 'हा गोविन्द' ऐसी पुकार लगाई। (कवि) रघुराज कहते हैं कि उस समय जगन्नाथ ने द्वारका से भागकर उसकी मर्यादा रखी। आज उनके हाथ पर ही मेरी लाज है।

धर्म अवतार बैठ्यो भूपति युधिष्ठिर
सहस्त्र दश नाग जोर भीम गदाधारी है।
भुवन विजेता विजै यमहू अतुल बल
देव व्रत द्रोण कृप धर्म को विचारी है।
जात मरजाद जागसेनी की न बार्यो कोऊ
कहै रघुराज मुख टेरत विहारी है।
रुक्मिणी विहाय भयो अम्बर अनूप रूप
सोई जगदीश लाज राखैगो हमारी है।।९।।

भावार्थ

उस समय धर्म के अवतार राजा युधिष्ठिर बैठे थे। दस हजार हाथियों का बल रखने वाले गदाधारी भीम भी थे। विश्व के विजेता, यम को भी विजय करने वाले, अत्यन्त पराक्रमी, धर्म को विचार करने वाले भीष्म, द्रोण कृप भी थे। पर याज्ञसेनी द्रौपदी की जाती हुई मर्यादा को किसी ने भी नहीं रोका। (कवि) रघुराज कहते हैं कि आपका मुख टेरते ही वे रुक्मिणी को छोड़ कर आकाश में अनुपम रूप धारण करने वाले हुए। वही जगदीश आज हमारी लाज रखेंगे।

हरख भरोसो पट करषन लाग्यो दुर-
योधन अनुज अनरीति अति कीन्हीं है।
पितामह आदि वृद्ध अर्जुनादि वीर सबै
मौन ह्वै विशोखि वीरताई तजि दीन्ही है।
भनै रघुराज मेरी लाज को रखैया सोई
द्रौपदी पुकारी जाही नाथ निज चीन्ही है।
हा यदु कहन पायो नाथ ना कढ़न पायो
आयो यदुनाथ मरजाद राखि लीन्ही है।।१०।।

भावार्थ

दुर्योधन का छोटा भाई हर्ष में भर कर उसका वस्त्र खींचने लगा। यह उसने अत्यन्त कुरीति पूर्ण आचरण किया। उस समय भीष्म पितामह आदि वृद्ध लोगों ने तथा अर्जुन आदि सभी वीरों ने मौन होकर तथा शेखी छोड़ कर वीरता को छोड़ दिया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मेरी लाज का रखवाला वही है जिसे द्रौपदी ने पुकारा तथा जिसे अपना नाथ माना। उस समय द्रौपदी 'हा यदु' इतना ही कह पाई थी, उसके मुख से 'नाथ' निकल भी नहीं पाया था, तभी यदुनाथ ने आकर उसकी मर्यादा की रक्षा की थी।

बलिन के बल त्योहीं प्रबल हूते प्रबल
निबलक बल सोई ईशन के ईश हैं।
कामद के कामदानी, मानद के मानदानी
ज्ञानद के ज्ञानदानी, महिप महीश हैं।
भनै रघुराज लोकपाल के पालक सो
घालक के घालक अहीश नावे शीश हैं।
नाथन के नाथ, असाथन के साथ सत्य
मो सम अनाथन के नाथ जगदीश हैं।।११।।

भावार्थ

वे बलवानों के बल हैं तथा प्रबल लोगों के लिये प्रकृष्ट बल देने वाले हैं। वही निर्बल के बल तथा ईशों के भी ईश हैं। वे कामद लोगों को काम का दान करने वाले, मानद लोगों को मान का दान करने वाले, ज्ञान देने वाले लोगों को ज्ञान का दान करने वाले पृथिवी के ईश्वर हैं। (कवि) रघुराज कहते हैं कि वे लोकपालों के पालक तथा घातक लोगों के घातक हैं, जिन्हें सभी राजा सिर नवाते हैं। वे नाथों के भी नाथ तथा असाथों के सचमुच साथ देने वाले हैं तथा मेरे समान अनाथों के नाथ जगदीश हैं।

अनुशीलन

यहाँ पालक के सादृश्य पर घातक के स्थान पर घालक का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग रामचरितमानस में भी प्राप्त है— 'पर घर घालक लाज न भीरा' बालकाण्ड पृ. १०९।

अनिल के अनिल अनल के अनल सोई
सूरज के सूरज प्रकाशिन प्रकाश हैं।
अगति के गति त्योंहि अमति के मति
रतिवानन के रति विन आसिन के आस हैं।
भनै रघुराज सोई तीरथ के तीरथ
भगीरथसुता के उत्पत्ति के अवास हैं।
मो सम पतित के सुपावन करनवारे
जाके पदपंकज भरोसे दीनदास हैं।।१२।।

भावार्थ— आप वायु के वायु तथा अग्नि को अग्नि प्रदान करने वाले हैं। आप सूर्य को भी सूर्य की शक्ति देने वाले तथा प्रकाशों के भी प्रकाश हैं। आप गतिविहीन को गति देने वाले, निर्बुद्धि को बुद्धि तथा रति वालों को रति देने वाले बेसहारा लोगों के सहारा हैं। (कवि) रघुराज कहते हैं कि आप तीर्थों के तीर्थ तथा भगीरथ की पुत्री गंगा की उत्पत्ति के स्थान हैं। आप मेरे समान पतित को सुन्दर पवित्र करने वाले हैं। आपके चरणकमलों के भरोसे ही दीन और दास हैं।

अनुशीलन—कवि की यह धारणा उपनिषद् के इस वचन पर आधारित है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तया भासा सर्वमिदं विभाति।

—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१४

अर्थात् उस मूल 'कारण जगत्' में सूर्य, चन्द्र तारे, बिजली कोई भी प्रकाशित नहीं होते। मामूली आग का क्या कहना है। वास्तव में उसके प्रकाश के पीछे ही उसके ही प्रकाश के द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता है।

सूरज न होते कहौ वासर तौ कैसे होत
चंद जो न होतो कहौ शीतल को करतो।
शेष जो न होते कहो धारत धरा को कौन
पौन जो न होतो कहो जीवन को धरतो।
अवनि न होती तो निवास कहो कहाँ होत,
होत नहीं अम्बर जो कहाँ को संचरतो
जो नीलाचल में विराजते श्रीजगन्नाथ,
रघुराज ऐसे अधमानि को उधरतो।।१३।।

भावार्थ

यदि सूर्य न होता तो दिन कैसे होता। यदि चन्द्रमा न होता तो कौन शीतलता प्रदान करता। यदि शेषनाग न होते तो इस धरती को कौन धारण करता। यदि वायु न होती तो इस जीवन को कौन धारण कर पाता। यदि धरती न होती तो निवास कहाँ हो पाता। यदि आकाश नहीं होता तो कहाँ विचरण कर पाते। इसी प्रकार यदि श्री जगन्नाथ केवल नीलाचल में ही विराजते रहते तो (कवि) रघुराज जैसे अधम का कौन उद्धार कर पाता।

जगत में जब ते विधाता दियो जन्म मोहि
तब ते विशेषि पाप कर्म ही को कीन्हों है।
ज्ञान में न योग में न धर्म में बढ़ति रुचि
प्रीति युत द्विजन को दानहूँ न दीन्हों है।
पूरो पुहुमी में मैं हौं पतित प्रधान साँचो
काम क्रोध लोभ मोह मित्र निज चीन्हों है।
पतित के पावन करैया जगदीश आप
ताते रघुराज तुमहीं को ताकि लीन्हों है।।१४।।

भावार्थ

इस दुनियाँ में जब से ईश्वर ने मुझे जन्म दिया, तब से मैने विशेष रूप से पाप कार्य ही किये हैं। मेरी रुचि ज्ञान, योग तथा धर्म में नहीं बढ़ती है। मैने आनन्द से परिपूर्ण ब्राह्मणों को दान भी नहीं दिया है। इस समूची धरती में मैं सचमुच प्रधान पतित हूँ। मैने काम, क्रोध, लोभ, मोह को अपना निजी मित्र बनाया है। आप जगदीश पतितों को पवित्र करने वाले हैं। इसीलिये (कवि) रघुराज ने आपकी ही ओर देखा है।

अनुशीलन

यहाँ 'पृथिवी' शब्द से निःसृत पुरानी अवधी के शब्द 'पुहुमी' को बघेली ने सुरक्षित रखा है।

साधन न कीन्हों योग चित्त थिरता को तज्यो
विरति निवार्‌यो मोह सुत वनितान को।
मद के प्रभाव ते विज्ञान को न लेश कछू,
नम्रता विहीन भूल्यो भक्ति के विधान को।
जप तप याग नेम यम व्रत आदि सबै,
आलस विनाश्यो नहिं द्रव्य बहु दान को।
दीन रघुराजै अब एक ही भरोस रह्‌यो
नीलाचलवासी नाथ करुणानिधान को।।१५।।

भाषार्थ

योग की साधना नहीं की। इस प्रकार चित्त की स्थिरता को छोड़ दिया। वैराग्य नहीं किया तथा पुत्र, स्त्री के मोह में पड़े रहे। मद के प्रभाव से विज्ञान का लेश भी नहीं प्राप्त किया। नम्रता से विहीन होकर भक्ति के विधान भूल गए। जप तप यज्ञ नियम यम व्रत आदि सब कुछ आलस्य में नष्ट कर डाले। प्रभूत दान के लिये द्रव्य भी नहीं रखा। (कवि) दीन रघुराज कहते हैं कि अब नीलाचल में निवास करने वाले करुणानिधान नाथ का ही एक भरोसा रह गया है।

विषय लगावै काम ऐंचि निज ओर मन
क्रोधते करावै हिंसा दया बिसराइ कै।
लोभ परधन में बसावै मन बरबश
मोह तिय सुत में फँसावे है बसाइकै।
मदहू छुड़ावै हद्द शास्त्रन पुराणन की
मत्सर करावै द्वेष आन को नशाइकै
याही ते तिहारो रघुराज दीनदास जग-
दीश तेरे चरण शरण गिर्‍यो आइकै।।१६।।

भावार्थ

काम मेरे मन को अपनी ओर खींच कर विषयों में लगाता है। वह क्रोध के द्वारा दया को भुलाकर हिंसा कराता है। लोभ मेरे मन को जबर्दस्ती दूसरे के धन की ओर लगाता है। मोह मेरे मन को स्त्री तथा पुत्र में बसाकर फँसा लेता है। इसी प्रकार मद मुझे शास्त्रों और पुराणों की सीमा से बाहर कर देता है। मत्सर या ईर्ष्या अन्यों को नष्ट करते हुए द्वेष कराती है। इसीलिये (कवि) रघुराज दीन दास आप जगदीश के चरणों में आकर गिरे हैं।

यतन अनेक कियो आपने सुधारन को
ह्वै गये विफल कछु सुकृत न जाग्यो है।
भीर भूरि कै भरोस देवन दुबारे गयो
तेऊ महापतित विचारि मोंहि त्यागो है।
काहू के न काम को, गुलाम वाम दाम हूँ को
रघुराज परम मलीन पाप पाग्यो है।
जगत अधार हौ अधार जगदीश मोंहि
अब तो उधार आप ही सो मोर लाग्यो है।।१७।।

भावार्थ

मैने अपना सुधार करने के लिये अनेक प्रयत्न किये। पर वे सभी विफल हो गए, कोई सुकृत नहीं जागा। मै जगत् की भीड़ को भूल कर देवताओं के दरवाजे पर गया। पर उन्होंने भी मुझे महापतित समझ कर त्याग दिया। मै किसी के काम का नहीं हूँ। मैं स्त्री, धन सम्पत्ति का ही दास हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं परम मलिन पाप में पगा हुआ हूँ। जगदीश! आप तो जगत् के आधार हैं तथा मेरे भी आधार हैं। अतः अब अपने उद्धार के प्रति आपकी ही ओर मेरा मन लगा है।

अनुशीलन

उस समय फारसी, उर्दू शब्दों का भी पर्याप्त प्रचलन हो गया था। अतः 'गुलाम' और 'दाम' इन उर्दू शब्दों के बीच स्त्री अर्थ में 'वामा' शब्द से निःसृत 'वाम' शब्द का अनुप्रास देखने योग्य है।

रोज रोज मोसों तो अनेक अपराध होत
साध सब मन की अगाध करि लेत हौं।
विषय विवश तजि धीर को धरा में धाय
धाम धाम दाम ही के काम में सचेत हौं।
गहि कै कुसंग सीर, पाप बीज बोइ बोइ
कुमति कि लालते सिंचैया हिय खेत हौं।
रघुराज ऐसहू अघी के हौ उधारक तू
जगदीश द्वार में पुकार ताते देत हौं।।१८।।

भाषार्थ

मुझसे प्रतिदिन अनेक अपराध होते हैं। मैं मन की पूरी इच्छा पूरी कर लेता हूँ। विषयों के अधीन होकर, धीरज को छोड़ कर धरती में घूमते हुए मैं हर जगह सम्पत्ति जोड़ने के काम में ही सचेत हूँ। मैं कुसंग रूपी हल चला कर पापरूपी बीज को बार बार बोते हुए कुमति रूपी गन्दे जल से हृदय रूपी खेत को सींचता हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे जगदीश! क्योंकि आप ऐसे पापी का उद्धार करने वाले हैं, अतः मैं आपके द्वार पर पुकार देता हूँ।

कीन्हें उपकार एक भूतल न चारों युग
सत उपकारन को चित्तसों बिसारे है।
कोऊ कैसहू जो कहे हौं तो मै तिहारो दास,
ताको अभै दान देत मेटि के खँभारे हैं।
ऐसो व्रतधारी दूजो साहब समर्थ कौन,
रोज रोज खोजि खोजि अधम उधारे हैं।
पतित के पावन सुनो तो जगदीश रघु-
राज के उधारन में काहे तू विचारे है।।१९।।

भावार्थ

मैने चारों युगों में भूतल में एक भी उपकार नहीं किया तथा अच्छे लोगों के उपकार करने को मन से भुला रखा है। कोई कुछ भी कहे, पर मैं अन्ततः तुम्हारा दास ही तो हूँ। तुम उनके दुख को दूर करके अभय दान देते हो। साहब, ऐसा समर्थ व्रतधारी दूसरा कौन होगा— वे प्रतिदिन खोज-खोज कर अधमों का उद्धार करते हैं। हे जगदीश! हमने आपको पतितों का पवित्र करने वाला सुना है। फिर आप (कवि) रघुराज के उद्धार करने में क्यों विचार करते हैं।

अनुशीलन

दुख अर्थ में 'खँभार' का प्रयोग पुरानी अवधी तथा बघेली में होता रहा है। इसका प्रयोग मानस में भी प्राप्त है—

'फिरहू त सबकर मिटै खभारु' (अयोध्याकाण्ड पृ. ४६३)

दुरित दुरंत मैं अनेक जन्म कीन्ह्यौ केते
तिन्हें देव दूजो कौन देहते निकारि है।
याही हेत शोचत सिराने रैन बासरहूँ
गुणिकै गरीब कौन गति को सुधारि है।
रघुराज चित्त में भरोसे यह ठीक ठोक्यों
दीनबंधु दीनानाथ दाया क्यों बिसारी है
पतित के पावन कहाय जग जगदीश
मेरी बार कैसो निज बिरद बिगारी है।।२०।।

भाषार्थ

मैने अनेक जन्मों में भयंकर पापकर्म किये हैं। हे देव! उन्हें आप दूसरी किस देह से निकालेंगे। मैं यही सोचता हूँ कि दिन रात आपके सिरहाने निवास कर सकूँ। आप इसे गरीब समझ कर कौन सी गति सुधारेंगे। (कवि) रघुराज आपके चित्त में आपके भरोसे हैं, यह आपने ठीक समझा है। हे दीन बन्धु, दीनों के नाथ! फिर आप दया क्यों भूल गए हैं। हे जगदीश! आप दुनियाँ के 'पतित पावन' कहे जाने के बाद भी मेरी बारी में अपना विशेषण कैसे बिगाड़ दिया है।

कहा कहौं नाथ कछू कहिं तौ न जात मुख
मेरे ही शरीर बसी औगुण समाज है।
रावरे के सन्मुख न ठाढ होन लायक
विधायक अनेक अपकर्म जो अकाज है।
ताहू पै निलज्ज ऐसी करिकै ढिठाई करै,
विनती विशेषि अब एती रघुराज है।
पतित के पावन दया के सिंधु दीनबंधु
बिरद सँवारि निज राखौ मेरी लाज है।।२१।।

भाषार्थ

हे नाथ! मैं कहाँ तक कहूँ, मुख से कुछ नहीं कहा जाता। मेरे ही शरीर में अवगुणों का समाज बसा है। मैं आपके सम्मुख खड़ा होने लायक नहीं हूँ। मैं अनेक अकरणीय कुकर्मों का करने वाला हूँ। फिर भी निर्लज्ज (कवि) रघुराज आपसे विशेष विनती करने की ढिठाई कर रहा है। हे पतित पावन, दया के सिन्धु, दीनबन्धु! आप अपने विशेषण को बनाए रखते हुए मेरी लाज रखिये।

चारहू पदारथ के बकसनवारे आप
आपस्तम्ब वेद आदि तुम ही उधारहू।
धारहू में पर्‌यो भवसागर की कोई जन
जनम अनेक अघ तुमहीं बिदारहू।
दारहू को तजि रघुराज जो भजत पद
पद सो लहत सुभ त्यागि सनसारहू।
सारहू जो पायो सब तुमको न चित्त लायो
लायो सो विशेषिकै विचारहू अचारहू।।२२।।

भाषार्थ

आप (पृथिवी, जल, तेज, वायु) इन चारों पदार्थों को प्रदान करने वाले हैं। आपस्तम्ब, वेद आदि का तुम ही उद्‌धार करने वाले हो। यदि कोई मनुष्य भवसागर की बीच धारा में भी पड़ा हो तो उसके अनेक जन्मों के पापों को तुम ही काटते हो। (कवि) रघुराज कहते हैं कि स्त्री को भी छोड़ कर जो आपके चरणों को भजता है वह संसार छोड़ने वालों के शुभ पद को प्राप्त करता है। जिन्होंने इस संसार का सार भी पाया है, वे भी विशेषतः लौकिक आचार विचार को ही मन में लाए हैं, तुम्हें नहीं।

कबहूँ न तापी महापापी औ सुरापी भयो
जीवन को तापी त्यों प्रलापी मृषा दानीको।
नारन को प्यारो त्यों कुनारिन को भोगवारो
अधम अजामिल अधीश अप्रमानी को।
सुत मिसि मरत समै सो लै तिहारो नाम
छूट्यो यम पाश ते समत्व लह्यो ज्ञानीको।
जगदीश अधम उधारन तुम्हीं हो रघु-
राज ऐसे दीनन पै और दया दानीको।।२३।।

भावार्थ

मैं कभी तपस्वी नहीं रहा, महापापी तथा सुरापान करने वाला रहा। मैं नारियों से प्यार करने वाला तथा कुनारियों को भोगने वाला रहा। अधम असम्मान के अधीश अजामिल ने मरते समय अपने पुत्र के बहाने से तुम्हारा नाम लिया। वह यमपाश से छूट गया तथा ज्ञानियों के समान पद को प्राप्त किया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे जगदीश! तुम्हीं अधमों का उद्धार करने वाले तथा इस प्रकार के दीनों पर दया का दान करने वाले हो।

तुलना एवं सन्दर्भ

पुराणों के अनुसार कान्यकुब्ज देश के निवासी अजामिल के दासी से १० पुत्र थे। सबसे छोटे का नाम नारायण था। मरते समय इसने बालक को बुलाने के बहाने नारायण का नाम लिया। इतने मात्र से ही यह इस लोक से तर गया तथा इसने विष्णुलोक प्राप्त किया। यह कथा भागवत ६.१.२० से अन्त तक कही है।

कवि ने इसी भाव को स्वरचित 'जगदीशशतकम्' में इस प्रकार प्रकट किया है—

स्त्रैणो धनान्धमदिरावशसम्प्रमत्तः
पापी त्वजामिलशठः कथनात्तु यस्य।
नाम्नो जगाम पदवीं मुनिभिर्दुरायां
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।।श्लोक २१।।

अशुभ अलायक अयोग जेते होत कर्म
अघ अटवी को भयो अवशि अवासी है।
मै तो उपहासयोग्य उपज्यो हमेश ही ते
ताते लाज लागति न हाँसी होती खासी है।
जतन अनेकहू ते शोचना सिरात एक
सोई रघुराज अफसोस दुखरासी है।
नीलाचलनायक समर्थ सब लायक
तिहारो तो कहाय हाय होयगी जु हाँसी है।। २४।।

भावार्थ

अशुभ तथा मेरे अयोग्य जो भी कर्म हैं उन्होंने तथा पहाड़ जैसे पापों ने मुझ पर निश्चित रूप से आवास किया है। मै तो सदा से ही उपहास के योग्य के रूप में उत्पन्न हुआ हूँ। इसके लिये मेरी खूब हँसी होती है, फिर भी लज्जा नहीं लगती। अनेक प्रयत्न के बाद भी मेरा शोक ठण्डा नहीं पड़ता या कम नहीं होता। अफसोस है कि वही (कवि) रघुराज दुख में है। आप नीलाचलनायक तथा सभी प्रकार से समर्थ हैं। आपका कहे जाने के बाद भी (उद्धार न होने पर) जग में मेरी हँसी होगी।

अनुशीलन

ठण्डा होने या लक्षणा वृत्ति से कम होने अर्थ में संस्कृत के 'शीतलयति' शब्द से विकसित 'सिरात' इस बहुमूल्य शब्द को यहाँ सुरक्षित रखा गया है।

जनम अनेकन ते परत पराई पौर
कबहूँ न नेकहू गलानि मन आई है।
सुख के निमित्त भ्रम्यो चित्त नित्त वित्त चेरो
जगत अनित्य में न कृत्य कहूँ पाई है।
बहत बहत बहु बीच विश्ववारिधि के
लाग्यो आइ रावरे के तीर बरियाई है।
अब रघुराज लाज रही रावरे के हाथ
जगन्नाथ राखिबे में रावरी बड़ाई है।।२५।।

भावार्थ

मेरे अनेक जन्मों में दूसरी दूसरी मोटी या गम्भीर परतें पड़ती रहीं। फिर भी जरा भी ग्लानि मन में नहीं आई। मैं सुख के लिये सदा घूमता रहा तथा सदा ही धन सम्पत्ति के लिये मन को घुमाता रहा। इस अनित्य जगत् में कहीं भी सही कार्य को नहीं प्राप्त कर सका। मैं बहते बहते विश्व रूपी समुद्र के बहुत बीच में चला गया। बड़ी मुश्किल से आपके किनारे लग पाया हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि अब तो आपके ही हाथ मेरी लाज है। हे जगन्नाथ! अब तो मुझे रखने में ही आपकी बड़ाई है।

अनुशीलन

यहाँ 'पौर' शब्द संस्कृत के 'प्रौढ़' से विकसित है तथा 'नेकहू' शब्द नीचे या कम होने अर्थ में संस्कृत के 'न्यक्' शब्द से बना है। 'बरियाई' शब्द संस्कृत के बल शब्द को नामधातुरूप बनाकर बनाया गया है।

सूर को विशोषन विपोषण मयंक हू को
तोषन तुरन्त देवद्रुम को विचारिये।
वायु को वहन त्यों सहन धरणी को ध्रुव
गहन को दाहन दहन को उचारिये।
बकस्यो अनेक गुण देवन अनेक ऐसे
मेरी नेक बिनती विशेषि चित्त धारिये।
अधम उधार राख्यो आपनेही हाथ ताते
अब रघुराजे नाथ अवशि उधारिये।।२६।।

भावार्थ

शोषण या सुखाने के लिये सूर्य को, पोषण के लिये चन्द्रमा को तथा सन्तुष्टि के लिये आप तुरन्त ही कल्पवृक्ष को सोच सकते हैं। वहन के लिये वायु, सहन या क्षमा के लिए निश्चित रूप से धरती को तथा वनों को जलाने के लिये अग्नि को कह सकते हैं। इस प्रकार आपने देवताओं को अनेक गुण प्रदान किये हैं। आप मेरी छोटी सी विनती को विशेष रूप से चित्त में रखें। आप अधम का उद्धार करके अपने ही हाथ रखियेगा। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे नाथ! अब आप हमारा अवश्य उद्धार कीजिये।

भेज्यो दुरयोधन जो आयो दुरवासा तब
जागसेनी जेइँ चुकी पतिन जेंवाइ के।
नृपति निहार्‌यो दशसहस सुशिष्ययुत
तुरत तयार करो पाक कह्यो जाइकै।
ताहि समै शाप भीति तन को सँभार छूट्‌यो
नन्द को कुमार ही अधार रह्‌यो धाइकै
रघुराज नाथ आयो रुक्मिणी को छोड़ि वह
द्रौपदी पुकार परी द्वारका में आइ कै।।२७।।

भावार्थ

दुर्योधन के भेजने पर दुर्वासा आए। तब याज्ञसेनी द्रौपदी पतियों को खिलाकर खा चुकी थीं। तब राजा (युधिष्ठिर) ने दस हजार अच्छे शिष्यों के साथ (दुर्वासा को) देखा। उन्होंने कहा कि तुरत भोजन तैयार करो। उस समय शाप के डर से तन का सम्भालना छूट गया अर्थात् शरीर को भी नहीं सम्भाल सके। उस समय नन्द के कुमार ही आधार थे। (कवि) रघुराज कहते हैं कि तब नाथ रुक्मिणी को छोड़कर दौड़ कर आए। क्योंकि द्वारका में आकर द्रौपदी की पुकार पड़ी थी।

तुलना एवं सन्दर्भ

यह घटना महाभारत से ली गई है। एक बार दुर्योधन के कहने पर दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों के साथ पाण्डवों के पास भोजन करने पहुँचे तथा स्नान करने तक भोजन तैयार करने की आज्ञा दी। उस समय पाण्डव तथा द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं। इस विपत्ति में द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को याद किया। श्रीकृष्ण ने अपनी माया से उनका पेट भर दिया तथा वे लोग स्नान के बाद पाण्डवों से भोजन कराने का आग्रह नहीं कर पाए। इस विषय में महाभारत ५.१४४.१९ का प्रसंग द्रष्टव्य है।

जरत जरूर दुरवासा प्रलै पावक में
आपने शरण पांडुपुत्रन विचार कै।
बैठे हुते द्वारका में रुक्मिणी की सेज ही में
टेर्यो जब हा गोविन्द द्रुपदी पुकार के।
भूल्यो भौन भूली भामिनीहू तन भान भूल्यो
रघुराज करुणाकर करुणा पसारिकै।
चलन के हेतु एक चरण उतार्यो भूमि
दूजो पद द्रौपदी के निकट सिधारिकै।।२८।।

भाषार्थ

'पाण्डुपुत्र आपकी शरण में हैं' यह सोचकर दुर्वासा प्रलय की आग में जले तो जरूर— अर्थात् मन में बहुत नाराज हुए। जब द्रौपदी ने 'हा गोविन्द' यह पुकारते हुए टेर लगाई तब वे द्वारिका में रुक्मिणी के शयन पर बैठे थे। उस समय वे भवन को भूल गए, भामिनी के तन का भी भान भूल गए। (कवि) रघुराज कहते हैं कि करुणाकर ने अपनी करुणा फैलाते हुए चलने के लिये एक चरण भूमि पर रखा तथा दूसरा पैर सीधा द्रौपदी के पास रखकर वहाँ पहुँच गए।

कंचनकलितमणि मंदिर के मध्य बैठे
कुंडिननरेशसुता बीरी देन लागी है।
मंद मुसकात लेत वाम पाणि ही सो ताहि
द्रुपद कुमारिका की टेर तहाँ जागी है।
जानि कै गरीब को निवाज पांडुपुत्रन पै
दुरवासा कोप की कराल जागी आगी है।
खा न तो न पायो पान करुणानिधान रघु-
राज कै पयान आयो दीन अनुरागी है।।२९।।

भाषार्थ

स्वर्ण से युक्त मणि वाले मन्दिर के बीच बैठे कुण्डिन नरेश की पुत्री रुक्मिणी पान का बीड़ा देने लगीं। वे मन्द मुसकाते हुए बाँए हाथ से उसे ले ही रहे थे कि द्रुपद की पुत्री द्रौपदी की टेर होने लगी। दीनबन्धु को जानते हुए भी दुर्वासा की भीषण क्रोध की आग पाण्डुपुत्रों पर जाग उठी। उस समय करुणानिधान दीनों के अनुरागी पान तो नहीं खा सके। (कवि) रघुराज कहते हैं कि तभी उनका पैगाम या बुलावा आ गया।

अनुशीलन

रुक्मिणी विदर्भ देश के प्राचीन नगर कुण्डिन के राजा भीष्म की पुत्री थीं। अतः यहाँ उपरिलिखित सम्बोधन सार्थक है।

दीनन के हेतु दौरि दौरि के निवार्‌यो दुख
कहाँ लौं गनाऊँ मैं निहारी दीह करुना।
तातें बार बार हौं बुझाऊँ चित्त चंचल को
कबहूँ कल्याण हित और धर्म धरुना।
नीलाचलनाथ हैं अनाथन के नाथ सांचे
तासु पदपंकज विहाइ और वरुना।
लाज राखिहैं गरीब के निवाज सोई हठि
रघुराज अब तो खँभार कुछ करुना।।३०।।

भाषार्थ

दीनों के लिये आपने दौड़ दौड़ कर दुखों का निवारण किया। मैं कहाँ तक आपकी महती दया गिनाऊँ। मै अपने गरम चञ्चल चित्त को बार बार बुझाता हूँ। कभी तो कल्याण के लिये धर्म धारण कीजिये। सचमुच नीलाचलनाथ ही अनाथों के नाथ हैं। उनके चरणकमल को छोड़कर मैं और किसी का वरण नहीं करुँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि वे दीनबन्धु निश्चित रूप से लाज रखेंगे। अब तो हमारे दुखों के प्रति कुछ कीजिये।

अनुशीलन

यहाँ 'दीह' शब्द संस्कृत के 'दीर्घ' शब्द से विकसित हुआ है।

विषय अनेकन में वागत वयारिही सो
विष को विचारत ना तुच्छ सुख बावरो।
छोड़िकै अमीसी सुरसरिता तिहारे पद
चित्त दूसिया तौ यह जात डूबि डावरो।
पकरि पकरि ल्यायो हार्‌यौ कै उपाय बहु
थाक्यो उपदेश हूके मारि चारि चाकरो।
रघुराज याको पदपिंजरे में डारिबेको
जगदीश बाँकी अब जोर रह्यो रावरो।।३१।।

भावार्थ

मैं (इधर-उधर भागती) हवा के समान अनेक विषयों की ओर दौड़ता रहा। इस मतवाले ने तुच्छ सुख के विष को नहीं समझा। तुम्हारे चरण रूपी अमृत के समान सुरसरिता को छोड़कर यह दूषित चित्त गन्दे पानी के गड्ढे में डूबता रहा। मैं इसे पकड़ पकड़ कर लाया। अनेक उपाय करते-करते हार गया। चारों ओर चक्कर मारते हुए उपदेशों से भी थक गया (कवि) रघुराज कहते हैं कि इस चित्त को आपके चरण रूपी पिंजरे में डालूँगा। हे जगदीश! अब आपका ही विशेष जोर रह गया है।

केते कियो पाप हौं तो पूरब जनमहूँ में
ताही के प्रभावते सुपंथ सब त्याग्यो है।
अबहूँ अनेक अघ कीन्ह्यों कछु संख्या नाहीं
रोज-रोज पापही के पंथही में लाग्यो है।
तोष नहीं होत अबै करिहौं कितेक पाप
सहिहौं अनेक ताप याको नहीं भाग्यो है।
रघुराज ऐसे अति अधम उधारिबे में
जगदीश एक रावरे को जोर जाग्यो है।।३२।।

भाषार्थ

मैने पूर्वजन्म में कितने ही पाप किये हैं। उसके ही प्रभाव से सभी अच्छे रास्ते छोड़ दिये हैं। अभी भी अनेक पाप किये हैं, जिसकी कोई गिनती नहीं है। प्रतिदिन पाप के ही रास्ते में लगा रहता हूँ। अभी कितने ही पाप करूँगा, फिर भी सन्तोष नहीं होता। अनेक कष्टों का भी सहन करूँगा, फिर भी उनसे नहीं भागता। (कवि) रघुराज कहते हैं कि ऐसे अति अधम का उद्धार करने में हे जगदीश! एक आपका ही जोर प्रकट हुआ है।

औगुण अनेक भीनो औगुणीन संग कीनो
औगुणी की शीस लीनो जगत में आइकै।
करुणानिधान संत दीन्ह्यों उपदेश हूजो
ताहूपै न चीन्ह्यों तिन्हैं माया में भुलाइकै।
राजमद धनमद नारिमद हद्द बाढ़ो
गाढ़ो गुण गर्व सर्व नम्रता नशाइकै।
होई हरि और को उधार को करैया मेरो
रघुराज पर्यो है तिहारी पौंरि धाइ के।।३३।।

भाषार्थ

मुझसे अनेक अवगुण हुए तथा मैंने अवगुणी लोगों का संग किया। मैंने इस दुनियाँ में आकर अवगुणी लोगों का आशीर्वाद लिया। करुणा के आगार सन्तों ने उपदेश दिये, फिर भी उन्हें माया में भूल कर नहीं पहचाना। मुझमें राजमद, धनमद, नारिमद निस्सीम बढ़ गया। मैंने नम्रता को नष्ट करके अपने सम्पूर्ण गर्व में गुणों को दबा दिया। मेरा हरि के अलावा कौन उद्धार करने वाला है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि इसीलिये मैं दौड़कर तुम्हारे चरणों में आया हूँ।

अनुशीलन

यहाँ 'भीनो' शब्द संस्कृत के 'भूत + पन्न' इन दो शब्दों के मेल से भाषा विज्ञान के 'उभयसम्मिश्रण' नियम से निर्मित हुआ है।

पाइ कै पुराणन में परम प्रमाणन को,
संतन बखानन को कानन में धार्‌यो ना।
जो पै कछू पायो ठहरायो ना हमेश सोऊ
पुनि पुनि सोइ कर्म करत मैं हार्‌यो ना।
लागत न लाजहौं मिजाज को बनाये फिरौं
गाज सो प्रचंड यमदंड को निहार्‌यो ना।
रघुराज पुनि को लगैहै पार बेड़ो मोर
विरद संभारि जगदीश जो संभार्‌यो ना।।३४।।

भावार्थ

पुराणों में परम प्रमाण के रूप में प्राप्त करके भी सन्तों के वचनों को कानों में नहीं धरा। जो भी कुछ पाया उसे हमेशा नहीं रखा। बार-बार उसी कार्य को करते हुए मैं हारा नहीं। अपने अभिमानी स्वभाव को बनाए घूमता हूँ, फिर भी लज्जा नहीं आती। बिजली के समान प्रचण्ड यमदण्ड को नहीं देखा। (कवि) रघुराज कहते हैं कि आप ही पुनः मेरा बेड़ा पार लगाएँगे। हे जगदीश! आप अपने विशेषण को सम्हालते हुए हमें क्यों नहीं सम्हालेंगे।

अनुशीलन

बिजली अर्थ में 'गाज' शब्द संस्कृत के 'गर्ज' से विकसित है। बिजली चमकने के साथ गरजती भी है, अतः उसे 'गर्ज' कहा गया है।

योग याग जप तप जगत विमुक्तिहूको
याचना करौं न याको कहो कौन काज है।
धर्म कर्म शर्महू अनेक नहिं चाहौं चित्त
स्वर्ग को सरस सुख दुखद दराज है।
विनै करों जोरि कर करुणानिधान सुनों
मांगौ बार बार अब राखो मेरी लाज है।
धोखे अनधोखे अपराध को समोखे एक
बारहू उचारो मेरो भयो रघुराज है।।३५।।

भावार्थ

योग, याग, जप, तप तथा जगत् से विमुक्ति के लिये मैं प्रार्थना नहीं करता। कहो, इसमें क्या बिगड़ता है। मेरा चित्त धर्म, कर्म तथा अनेक प्रकार की शान्ति को नहीं चाहता। स्वर्ग के सरस सुख को दुःख देने का स्थान बताता है। हे करुणानिधान! मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ, सुनिये— मैं बार-बार माँगता हूँ कि मेरी लाज रखिये। (कवि) रघुराज कहते हैं कि धोखे में या समझ बूझ कर अपराध को समेटते हुए एक बार कहिये कि आप मेरे हो गए हैं।

अनुशीलन

यहाँ बिगड़ने अर्थ में 'अकाज' शब्द के अकार का लोप 'अनाज > नाज' के समान होकर 'काज' शब्द निर्मित हुआ है। इस ग्रन्थ के १०३ श्लोक में स्थान अर्थ में 'दराज' शब्द का प्रयोग प्राप्त है। यहाँ उसका नामधातुरूप प्रयोग 'दराजहै' है। 'समोखे' शब्द संस्कृत के 'समाविष्ट' से निर्मित है। इसका 'समेटना' अथवा लक्षणा वृत्ति से 'सहन करना' अर्थ है।

करम विवश कीन्ह्यो जननी जठर वास
निखिल नरक सम भोग को लह्यो तहाँ।
पुहुमी परश होत मयापिंजरी में पर्‌यो
भोग्यों दुखभोग ही को गवन्यो जहाँ जहाँ।
कतहूँ न पायो कल शरण तिहारे आयो
जामें सब मंगल मवासमूल है महाँ।
अब भटकावो जनि राखिये समीप रघु-
राज ऐसो साहेब विहाय जायगो कहाँ।।३६।।

भाषार्थ

मैंने कर्मों के अधीन होकर माता के गर्भ में निवास किया। वहाँ पूरे नरक के समान भोग को प्राप्त किया। यहाँ धरती पर गिरते ही मायारूपी पिंजरे में फँस गए। दुखभोग भोगते हुए जहाँ-तहाँ घूमते रहे। जब कहीं भी निश्चिन्तता नहीं पाई तो तुम्हारे शरण में आए, जो सब प्रकार के मंगल का मूल तथा महान् आश्रयस्थान है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि अब मत भटकाओ अपने समीप रखो। साहब, आपको छोड़कर अब कहाँ जाएँगे।

अनुशीलन

यहाँ संस्कृत के 'गिरिश' शब्द के सादृश्य के अनुसार 'परश' शब्द बना लिया गया है।

जबते जनम लीन्ह्यों कीन्ह्यों हौं अनेक अघ

व्रत यम नियम में चित्त को न लायो मैं।

दानहूँ न दीन्ह्यों कछू संतपद नाहिं चीन्ह्यों,

जगती के तीरथ सप्रीति ना नहायो मैं।

सुकृत को लेश नहीं विद्यमान मेरे तन

विषय विवश धन हेत धरा धायो मैं।

जानि विन कारण कृपानिधान रघुराज

शरण तिहारे जगदीश चलि आयो मैं।।३७।।

भावार्थ

मैंने जबसे जन्म लिया है, तब से अनेक पाप किये हैं। व्रत, यम, नियम में चित्त को नहीं लाया हूँ। मैंने दान भी नहीं दिया तथा सन्तों के पद को भी नहीं पहचाना। मैंने जगत् के तीर्थों में आनन्द से स्नान नहीं किया। मेरे शरीर में सुकृत का लेश भी वर्तमान नहीं है। मैं विषयों के अधीन होकर धन के लिये इस धरती में घूमता रहा हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे कृपानिधान! मैं कारण जाने बिना आप जगदीश के शरण में चला आया हूँ।

कहाँ लो बखानो नाथ रावरी दयालुताई
जाको शेष शारदाहू पार नहीं पायो है।
दीनन के हेतु दाम धामहू विसारि देत
बाँधत रहत सुख नित वेद गायो है।
गाढ़ पर्‌यो गैयर को ग्रसत ही ग्राहमुख
कोऊ देव आरत विलोकि नहीं धायो है।
सर में सरोज करि कर में उठावतही
हा गोविन्द कहत गोविन्द कढ़ि आयो है।।३८।।

भावार्थ— हे नाथ! मैं आपकी दयालुता कहाँ तक बखानूँ, जिसका शारदा ने भी पार नहीं पाया है। आपने दीनों के लिये सुख सम्पत्ति तथा निवास को भी छोड़ दिया है। आप लोगों के सुख का प्रबन्ध करते रहे, ऐसा वेद ने भी गाया है। आप मगर के मुख के द्वारा गजराज को ग्रसते ही भागे आए। उस समय कोई भी देव उस आर्त को देख कर नहीं भागा। उस समय तालाब में पड़े कमल को हाथ में उठाते ही तथा 'हा गोविन्द' कहते ही गोविन्द चले आए।

अनुशीलन— यद्यपि संस्कृत में दयालु से तल् प्रत्यय होकर भाव में दयालुता बनता है। पर यहाँ 'शिवताति' आदि के समान वैदिक 'ताति' प्रत्यय के आधार पर दयालुताई बनाया गया है। इसी से 'चतुराई' आदि शब्द बने हैं। इस प्रकार वैदिक प्रत्यय की सुरक्षा के कारण यह बहुमूल्य शब्द है। देखें— हिन्दी शब्दानुशासन, किशोरीदास वाजपेयी पृ. २८५

'गैयर' शब्द संस्कृत 'गजराज' से विकसित है। इस तद्भव शब्द की सुरक्षा का बघेली को ही श्रेय प्राप्त है।

ग्राहते ग्रसित गजराज गाढ़ गाढ़ी पर्‌यो
लरत लरत जोर सिगरो बढ़ाइगो।
आरत निहारै नहिं आरत निवारै कोई
तब तो गयन्द श्री मुकुन्द समुहाइगो।
धायो है तुरन्त कमला को कंत रघुराज
दीन दास हेतु दया रंग अंग छाइगो
कहू पर्‌यो माल कहूँ पक्षिन को पाल कटि
कसत कृपाल वासुदेव लाल आइगो।।३९।।

भावार्थ— मगर से ग्रसित होकर गजराज जोरों से भिड़ गए। लड़ते लड़ते उनका पूरा बल समाप्त हो गया। सब लोग उस आर्त को देखते थे, पर उसकी आर्ति या कष्ट का निवारण नहीं कर रहे थे। तभी ऐरावत हाथी के समान श्री मुकुन्द उपस्थित हो गए। (कवि) रघुराज कहते हैं कि उस समय तुरन्त कमला के कान्त भागे तथा दीन दास के लिये उनके अंग में दया का रंग छा गया। उस समय (लड़ाई में) कहीं मांस के लोथड़े तथा कहीं पक्षियों के पंख आदि पड़े थे। तब कृपाल कहते ही वासुदेव लाल आ गए।

अनुशीलन— समाप्ति या विनाश को अशुभ मानते हुए साहित्य में उससे विपरीत शब्द प्रयोग की परम्परा रही है। इसीलिये संस्कृत में शून्य के अर्थ में 'पूर्ण' का प्रयोग किया जाता है। 'खग्रास' (पूर्णग्रहण) में शून्य अर्थ वाले 'ख' शब्द का पूर्ण अर्थ में ज्योतिषी लोग प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार यहाँ समाप्ति अर्थ में 'बढ़ाइगो' का प्रयोग किया गया है। यहाँ 'गयन्द' शब्द संस्कृत 'गजेन्द्र' से विकसित है।

तुलना एवं सन्दर्भ— श्रीमद्‌भागवत ११.१२.६ आदि के विवरण से प्रकट है कि भगवान् ने एक हाथी को ग्राह के चंगुल से मुक्त करके उसे सद्‌गति प्रदान की थी। यहाँ दो श्लोकों में इसका ही वर्णन है।

काम इक ओर ऐंचै क्रोध इक ओर ऐंचै

लोभ एक ओर ऐंचै चित्त को चपेटिकै।

मोह एक ओर ऐंचे मत्सरहू एक ओर

मद एक ओर ऐंचे आपनोई सेटिके।

ईंचाघीची माची ऐसी सांची अब मेरे नाथ

ताहूपै पिशाची आश खेदति खसेटिकै।

रघुराज जीव को गरीब गुणि राखि लेहु

आपने कमल पद झगरो समेटिकै।।४०।।

भाषार्थ

मन को अपने वश में करते हुए काम एक ओर खींचता है, क्रोध एक ओर खींचता है, लोभ एक ओर खींचता है, मोह एक ओर खींचता है तथा मत्सर अन्य ओर खींचता है। मद भी अपने को खदेड़ते हुए एक ओर खींचता है। हे मेरे नाथ! सचमुच इस प्रकार खींचाखाचीं मची है। फिर भी यह पिशाची आशा खसेट कर दौड़ती है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि इस जीव को गरीब समझ कर सब झगड़ा समेट कर अपने चरण-कमलों में रख लीजिये।

योग ज्ञान विरति सुभक्ति मुक्ति पादचारि
तामे योग होत नाहीं चित्त चंचलाई सों।
मोह मार्‌यो ज्ञानगति लोभहू विरति हर्‌यो
भक्तिहू भुलानी काम क्रोध कठिनाई सों।
नीलाचलनाथ पैहौं कैसे के तिहारे पद
साधन विहीन ग्रसो गर्व गरुआई सों।
रघुराज मोहि तो भरोसे एक रावरे को
करिये उधार अब अपनी बड़ाई सों।।४१।।

भावार्थ

योग, ज्ञान, वैराग्य, शुद्‌ध भक्ति, मुक्ति तथा (देवताओं के) चरणों में विचरण इन सब कार्यों में चित्त की चंचलता के कारण योग नहीं लगता। मोह ज्ञान की चेष्टाओं को मारता है, लोभ वैराग्य को हर लेता है। काम और क्रोध जंजाल भक्ति को भुला देता है। हे नीलाचलनाथ! मैं किस प्रकार तुम्हारे चरणों को प्राप्त करूँगा। मैं साधन विहीन होकर भी गर्व के भार से ग्रसा गया हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मुझे अब एक आपका ही भरोसा है। अब आप अपने बड़प्पन से उद्‌धार कीजिये।

जनम जनम युग युग में जगत बीच
मोंहि काम क्रूर यह बहुत विगोयो है।
करै बदनामी करवावै तो गुलामी वाम
ईश उरजामी की सुभक्ति सब खोयो है।
रघुराज पूरी रिपुताई बाँधि मोसो शठ
धन के निमित्त सब धर्महूँ को धोयो है।
रक्षो मोहि दुवनदुरासदसो जगदीश
याके बश ह्वैके हों तो सुचित न सोयो है।।४२।।

भावार्थ

मुझे अनेक जन्मों में तथा युगों युगों में इस दुनियाँ के बीच क्रूर काम ने खूब भिगोया है। वामा अर्थात् स्त्री की गुलामी बदनामी कराती है तथा मैंने अन्तर्यामी ईश्वर की सब शुद्ध भक्ति को खो दिया है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मेरे जैसे शठ ने धन के निमित्त सम्पूर्ण शत्रुता को बाँध कर सब धर्म को धो डाला है। हे दुःखों के विनाशक जगदीश! मेरी रक्षा करो, जिसके वश में होकर मैं निश्चिन्त होके नहीं सो पाया हूँ।

अनुशीलन

संस्कृत में ईश्वर के लिये 'अन्तर्यामी' शब्द तथा मानस आदि में इसका तद्भव रूप 'अन्तरजामी' शब्द प्राप्त है। पर यहाँ 'अन्तर' के समानार्थक 'उर' का प्रयोग करते हुए 'उरजामी' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जोलौं धन धाम ही में खान पान पूरो रह्यो
तोलौं सुत बंधु सनबंधि हू सगे रहे।
नारी नेहवारी कहै सती ह्वै के संग जैहों
अंतकाल आयो जब ज्ञाती देह को दहे।
पग ना निकास्यो वाम दाम दाम बूझ्यो सुत
भ्रात तात नात क्रियाकर्म ही को उमहे।
रघुराज ऐसे भवसिंधु में न बंधु कोई
दीन दीनबंधु के निवाहेनते निबहे।।४३।।

भाषार्थ

जब तक धन, घर में खान पान पूरा रहा, तब तक पुत्र, बन्धु तथा सम्बन्धी सभी सगे रहे। स्नेह करने वाली स्त्री कहती है कि मैं सती होकर तुम्हारे साथ ही जाऊँगी पर जब अन्त काल आया तथा सम्बन्धी लोग देह को जलाने लगे तब स्त्री ने पैसे पैसे पर ध्यान देते हुए घर से बाहर पैर नहीं निकाला तथा पुत्र, भाई, पिता आदि सभी क्रियाकर्म ही में लगे रहे। (कवि) रघुराज कहते हैं कि ऐसे संसार रूपी समुद्र में कोई बन्धु नहीं है। तभी दीनों के दीनबन्धु निर्वाह के लिये अपना धर्म निभाते हैं।

वाम दाम ग्राम धाम अति अभिराम ठाम
अमित अराम है अराम सब चाम को।
साम साम याम याम गाफिलते ही के ग्राम
भयो नहीं छाम केते ठान्यो बाम काम को।
सामकर शत्रुनाम रावरो ललाम त्यागि
सामकै असांचनसो सह्यो घोर घाम को।
ह्वै के बदनाम चित्त खाम कीन्ह्यो रघुराज
हौं तो मैं निकाम पै गुलाम भयो राम को।।४४।।

भावार्थ

स्त्री, धन-सम्पत्ति ग्राम, निवास तथा अत्यन्त सुन्दर स्थान— इन सबमें अत्यन्त आराम देखा। यह आराम सब चमड़ी का है। हर समय, हर प्रहर आपके ही स्थानों में घूमे। पर कहीं शान्ति नहीं पाई। सर्वत्र स्त्री तथा काम को ही अपनाया। शत्रु के नाम का साथ करते हुए आपका स्थान छोड़ दिया। असत्यभाषी लोगों का साथ करते हुए प्रचण्ड गर्मी को सहन किया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि अपने चित्त को बदनाम करते हुए उसे दुर्बल बनाया। यद्यपि मैं कामी हूँ, पर अन्त में राम का गुलाम हो गया।

अनुशीलन

यहाँ 'खाम' शब्द दुर्बल अर्थ वाले संस्कृत के 'क्षाम' शब्द से निर्मित है।

आलसी अलाल अघी अनख अवास अति
अधिक अधमहौं अजामिल के नाप ते।
ऐंचड़ अचूक अपकर्म में अगद्र अद्रि
अतिशै अभागी भयो अतन प्रताप ते।
अशुचि अधर्मी अहौं आरत अतीव ऐसो
अब तो अड्यो मैं आइ अमर अप्रापते।
रघुराज अमित अपावन की जगदीश
अवशि उधार, आश अहै एक आपते।।४५।।

भावार्थ— मैं अत्यन्त आलसी पापी तथा क्रोध और रोष करने वाला हूँ। मैं अजामिल के पैमाने से भी अधिक अधम हूँ। मैं पक्का मूर्ख तथा कुकर्म में अगाह्य अथवा दुष्प्रवेश्य पर्वत के समान हूँ। मैं अपने बल से अतिशय या अत्यन्त अभागी बना हूँ। मैं ऐसा अपवित्र, अधर्मी तथा आर्त या दुखी हूँ कि अब आप अमर को पाने के लिये अड़ गया हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे जगदीश! आप इस अत्यन्त अपवित्र का अवश्य उद्धार करें। अब केवल आपसे ही आशा है।

अनुशीलन— यहाँ संस्कृत के 'अलस' शब्द से निकसना > निकलना के समान सकार को लकार होकर अलाल शब्द विकसित हुआ है। यहाँ अद्रि के साथ अनुप्रास बनाने के लिये संस्कृत 'अगाह्य शब्द को 'अगद्र' के रूप में बदला गया है। अन्य सभी विभाषाओं में संस्कृत 'आत्मन्' शब्द से 'अपना' बना है। पर यहाँ बघेली में भाषा वैज्ञानिक स्वाभाविक 'समीकरण' के नियम के अनुसार 'आत्मन्' शब्द से 'अतन' इस बहुमूल्य शब्द को जीवित रखा गया है। मानस इत्यादि में 'स्तुति' के स्थान में 'अस्तुति' जैसे अनेक प्रयोगों के समान यहाँ 'प्रापते' के स्थान पर 'अप्रापते' का प्रयोग किया गया है।

इसके पश्चात् वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से अनुप्रासयुक्त श्लोकों का प्रयोग किया गया है।

ककारानुप्रास

कठिन करायो मों सो कलि में कुकर्म केते
कबहूँ न आयो काम कर्म उपकार के।
कूरता को कलानिधि कूर नहिं कीन्ह्यो कमि
मोकर कुटायो जीव सकल संसार के।
कियो कुंभिपाक योग करिकै कुवोई जग
करुणा निकासि काम कीन्ह्यो अपकार के।
क्रोध की कमाई सों पराई रघुराज पद-
कंज पकर्‌यो है कृष्ण देवकीकुमार के।।४६।।

भावार्थ

मुझसे कलिकाल में कितने ही कठिन कुकर्म कराए। पर कभी उपकार के कार्य काम न आए। मैं क्रूरता की कलानिधि ने क्रूर कार्य में कभी कमी नहीं की तथा सम्पूर्ण संसार के प्राणियों को मोगरी सो कूटता रहा। मैने दुनियाँ को कुपित करके कुम्भीपाक नरक के योग का कार्य किया। करुणा को छोड़कर अपकार के कार्य किये। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैने क्रोध की कमाई करके देवकीकुमार कृष्ण के चरणकमल पकड़े हैं।

अनुशीलन

यहाँ 'कुवोई' शब्द संस्कृत के 'कोपयति' से निर्मित है। क्रम यह है कि पहले स्वरमध्यवर्ती स्पर्श व्यंजन पकार का लोप हुआ। उसके पश्चात् वकार आगम हुआ। जैसे— कूप, कुँआ, कुँवाँ।

खकारानुप्रास

औगुण अनेक भरो खरो खल खाली भक्ति
खूबी है खुटाई की खजानो अघखान को।
खेल्यो त्यों अखिल खेल खलन के खेत ही में
खुलि खुलि रांभ कीन्हों कामिनी बखानको।
खरसे मनोज यह मोंहि खरखर कीन्हों
धर्म को उखारि खेत खेत गयो मान को।
रघुराज खगपति गामिहौं खराव खूँट
आखिरी में राखिबो भरोस भगवान को।।४७।।

भाषार्थ

मुझमें अनेक अवगुण भरे हैं, मैने केवल कठोर और दुष्टतापूर्ण भक्ति की। मैं पाप की खान हूँ। यह सब मुझमें खोट होने का कमाल है। मैं दुष्टों के क्षेत्र में ही सम्पूर्ण खेल खेलता रहा तथा स्त्री को बखानते हुए खुलकर रँभाता रहा। गधे के समान काम ने मुझे कर्कश बनाया। धर्म का खेत उखाड़ कर सम्मान को नष्ट किया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि पक्षिराज के समान मैं उजड़े वीरान कोने में चला गया। अन्त में मैं भगवान् का ही भरोसा रखूँगा।

गकारानुप्रास

गढ़ि गढ़ि गाढ़ो गर्व रच्यो गुरुताई गढ़
औगुणीन गोहन गँवाइ गई जिंदगी।
औगुण अगन गिरि गुण को न गाह्यो सिंधु
प्रगटी गलानि नहिं आई शरमिन्दगी।
गैयर गोहारि रघुराज की गुहारी गुनो
गयो गँसि गेह गान ग्राह की वेलन्दगी।
गोपी गई गोत्रताई गडिगै गुमानताई
गौरकै न कीन्ह्यों हौं गोविंद जू की बंदगी।।४८।।

भावार्थ

गम्भीर अभिमान को बार-बार गढ़ के मैने अपने में भारीपन को गढ़ा है। अपने अवगुणों को छिपाने में मेरी जिन्दगी बीत गई। मैने पर्वत के समान अगणित अवगुणों को रखते हुए आपके समुद्र के समान गुणों को नहीं समझा। मुझे ग्लानि प्रकट हुई, फिर भी शर्मिन्दगी नहीं आई। (प्राचीन काल में) गजराज ने पुकार लगाई थी। (इस समय) मेरी पुकार सुनो। मेरा घर, आवाज तथा मगर की बुलन्दी ग्रस ली गई। मुझमें कुलीनता का भाव छिप गया, स्वाभिमान का भाव दब गया। मैने ध्यान से गोविन्द जी की वन्दना नहीं की।

घकारानुप्रास

घर घरनी के हेत घूमि घूमि घेरि घेरि
घाल्यो है अनेक घर घोर घोर कर्म में।
घड़ी घड़ी घोटि घोटि घोरि डार्यो विषै रोग
तापै मन खैंचि कै घसीटत अधर्म में।
वयस बितायो घोल घाल ही में रघुराज
घुसि घुसि घूसि हीसो घँस्यो अघभर्म में।
घात नहीं लागै अब घानि नहिं मेरी जग-
दीश उदघाट करो तप्यो कलिघर्म में।।४९।।

भाषार्थ

घर तथा घरवाली के लिये घूम-घूम कर तथा घेर घेर कर अनेक घरों में घूमते रहे तथा भयंकर कार्य करते रहे। हर समय विषय रूपी रोग को घोट घोट कर घोलते रहे। फिर भी मन मुझे खींच कर अधर्म में ही घसीटता रहा। (कवि) रघुराज कहते हैं कि इस तरह उल्टे कार्यों में ही उमर बिताते रहे, पाप-पूर्ण नौकरी में घुसते रहे। अब मेरी घात नहीं लगती। अब मेरी मारणशक्ति भी नहीं रही, हे जगदीश! मैं कलिरूप घाम में तप रहा हूँ, मुझे बाहर करो।

चकारानुप्रास

चाय भरो चोपि चोपि चमक्यो चहूँधा चित्त
चंचल चलांकी चतुराई के चपेट में।
कहूँ चलि चकिगो उचकिगो उहांते पुनि
लालच चुकी न चढ़ि ऊँचे गिर्‌यो हेठ में।
चौंक्यों न चवाइन के चाल में चलत चोर
चेरो ह्वै गयो हों दूसियान के उमेठ में।
चटक लगायो नाथ याकोतो चरण चारु
रघुराज चपरि चलावें विश्ववेठ में।।५०।।

भाषार्थ— चाव या लालसा में भरकर चोप चोप कर मेरा चित्त चारों ओर चमकता रहा। वह चञ्चल चालाकी और चतुराई की चपेट में आ गया। कहीं चल कर डरा या विस्मित हुआ, अतः वहाँ से पुनः उचट गया। लालच समाप्त नहीं हुई तथा इस प्रकार ऊँचे चढ़कर नीचे गिर गया। मेरा चोर चित्त वेश्या के घर की ओर चलते हुए चौंका नहीं। इस प्रकार दुष्टों के घरों में दास बन गया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि इस विश्व रूपी बस्ते में नाथ जल्दी-जल्दी चलावें तथा अपने सुन्दर चरणों में भक्ति लगावें।

अनुशीलन—यहाँ 'चकिगो' शब्द विस्मय अर्थ वाली संस्कृत की चक् धातु से निर्मित है, जिससे 'चकित' शब्द बना है। 'उचकिगो' शब्द संस्कृत के 'उच्चकयति' शब्द से विकसित है, जिसका अर्थ विस्मय के साथ वहाँ से हटना है। इस प्रकार के प्रयोग 'उज्जडयति > उजड़ना' आदि में देखे जा सकते हैं।

विश्ववेठ शब्द में विश्व को बस्ता या घोंसला समझने की भावना प्रकट हुई है। यह कल्पना वैदिक काल से ही चली आई है। द्रष्टव्य- यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्— यजुर्वेद ३२.८। अर्थात् 'जहाँ विश्व ही एक घोंसला है'।

छकारानुप्रास

लक्ष लक्ष लालच के लक्ष करिबे में दक्ष
लक्ष ह्वै अलक्ष ह्वै प्रगच्छोक्षिति छोर लों।
स्वक्षन को पक्ष छोंडि रक्षकै अस्वक्ष पक्ष
ह्वै गयो अस्वक्ष कलिकुक्ष कक्ष कोरलों।
अक्षम क्षमा में मोह क्षमा को न पाऊँ प्रीत
क्षमा में छलो गयो छली सो न छजोरलों।
अब रघुराज पर्यो यक्ष तेरे आई बिन
पक्षिन की दौर वसुदेव के किशोरलों।।५१।।

भाषार्थ

लाखों लाखों प्रकार की लालच के द्वारा लाख बनाने में दक्ष मैंने प्रकट होकर या छिप कर जगह-जगह जाकर धरती की चीजों को छीन लिया। मैंने स्वच्छ लोगों का पक्ष छोड़कर तथा अस्वच्छ लोगों का पक्ष रख कर कलि की कोख में अपने अंगों को रख कर स्वयं अस्वच्छ हो गया। मैं क्षमा में अक्षम होते हुए क्षमा में प्रीति नहीं पाता। मैं क्षमा में छला गया तथा छली के समान क्षमा से वंचित कर दिया गया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं बिना पंखों के ही दौड़ कर अब वसुदेव के पुत्र वासुदेव के पास पड़ गया।

जकारानुप्रास

जनम जनम युग युग जग यश हेत
युक्तकरि युद्धकरि जालिम जगो रह्यो।
जरिगे जतन सब जोग नहिं आए काम
जोग जाग जप जे जरूर जिन में लह्यो।
जोरिकै जिकिर जमदण्ड को न जोह्यो कछु
रघुराज योवन के जोर जीवहूँ जह्यो।
जकरो बृजिन ब्रजजबर जंजीरनसों
जगदीश जलज तिहारे पद हौं गह्यो।।५२।।

भावार्थ

इस दुनियाँ में अनेक जन्मों तक तथा अनेक युगों तक यश के लिये युक्ति लगाते हुए तथा युद्ध करते हुए यह जालिम मन जगता रहा। सभी प्रयत्न जल गए तथा जिन योग 'याग' जप में आवश्यक रूप से लगे रहे वे कोई योग काम नहीं आए। सम्पत्ति के जखीरा को जोड़कर यमदण्ड को भी कुछ नहीं समझा। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हमने यौवन के जोर से जीवों को भी छोड़ा या उपेक्षित किया। व्रज सदृश किसी भी स्थान के लोग वज्र के समान शक्तिशाली जंजीरों से जकड़े गए तो हे जगदीश! तुम्हारे चरणों को प्राप्त किया।

अनुशीलन

यहाँ 'जह्यो' शब्द संस्कृत के 'जहाति' से विकसित है। प्राकृत में इसके 'जहाइ' आदि रूप प्राप्त हैं।

झकारानुप्रास

झूठ ही झरोखन में झाँकि झाँकि झूमि रह्यो
झोर्‌यो कल्पवृक्ष झौंड़ झूँठ ही अरुझिकै।
झुमको झर्‌यो न एको झारि झारि हारि गयो
बोझ भ्रम धारि नहिं सुरझ्यो है उरझिकै।
विषय के झोंकन में झिल्यो जगदीश जाइ
झूर झाल खण्ड में हौं झीनभो न सूझिकै।
खीझिबे के लायक न रीझिबे के योग रघु-
राज पर रीझो जिन विरद को बूझिकै।।५३।।

भाषार्थ

खिड़कियों में बार-बार झाँकते हुए झूठे ही प्रसन्न होते रहे। झूठे कल्पवृक्ष के झौड़ में अरझ कर उसे झोरते रहे। हम उसे झारते झारते हार गए, पर झुमका या स्वर्णाभूषण एक भी न गिरा। भ्रम के बोझ को रखते हुए यह उलझ कर सुलझा नहीं। हे जगदीश! मैं विषयों के प्रवाह में बहता जा रहा हूँ। झूर अर्थात् सूखा झाल या वर्षा की झड़ी वाले स्थानों में इधर उधर फेंका जाता रहा, मुझे कुछ नहीं सूझा। मैं न तो गुस्सा करने के लायक हूँ, न प्रेम करने योग्य हूँ। अतः अपनी उपाधि को समझते हुए इस (कवि) रघुराज पर प्रसन्न होइये।

टकाराानुप्रास

भटकी भवाटवी में सटकि सुपंथ ही ते
निचटि सुचालको विरक्तिहूते लटक्यो।
रपटि रपटि कस्यो कटि में कुसंग दाम
झपटि झपटि झट संत संग झटक्यो।
रटि रटि वाम नाम कटि कटि तापैं गयो
निकट बिकट घटना को नहीं हटक्यो।
अटक्यो अनंग तट शटक्यो विचारि अब
रघुराज शीश जगदीश पद पटक्यो।।५४।।

भावार्थ

संसार रूपी जंगल में भटकते हुए सही रास्ते से अलग हो गए। अच्छे स्वभाव से दूर होते हुए विरक्ति में लटक गए। दौड़ दौड़ कर कमर में कुसंग तथा धन-सम्पत्ति को कसा। दूसरी जगह झपटते हुए सत्संग को झटक दिया। स्त्री का नाम रटते हुए टुकड़े टुकड़े ताप लिया या नष्ट कर लिया। समीपवर्ती भयंकर घटना से नहीं हटे। इधर उधर भागते हुए कामदेव के तट पर अटक गए। अब (कवि) रघुराज ने जगदीश के चरणों में अपना सिर पटक दिया।

ठकारानुप्रास

ठगन के ठाम ठाम ठोंकि ठोंकि ठीक ठीक
ठमकि ठमकि हों तो ठेल्यो है ठगाई को।
गयो ठगि ठगि पै न ताहू पै सुपंथ ठयो
ठान्यो है अनेक ठान केती निठुराई को।
मेधा भई कुंठित विकुंठ धनी सांचि कहौं
लुंठ्यो षट ठग करि कठिन ढिठाई को।
ठौर ठौर बाग्यो रघुराज नहीं लाग्यो ठीक
रह्यो बल ठाकुर मुकुन्द ठकुराई को।।५५।।

भावार्थ

ठगी के विभिन्न स्थानों को भली प्रकार ठोंक कर उस ठगाई की ओर ठमक ठमक कर ठेला जाता रहा। बार-बार ठगा जाने पर भी अच्छा रास्ता नहीं पकड़ा। मैंने अनेक स्थानों में कितनी ही निष्ठुरता को ठाना। मैं सच कहता हूँ कि बुद्धि कुण्ठित हो गई तथा धनी विकुण्ठित हो गए। मुझे ६ ठगों ने कठोर ढिठाई करते हुए खूब लूटा। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं जगह-जगह घूमता रहा, फिर भी ठीक नहीं लगा। इसलिये अब ठाकुर मुकुन्द की ठकुराई का ही बल है।

अनुशीलन

यहाँ 'षट ठग' शब्द से मनुष्य की ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा १ मन को ६ ठग बताया गया है।

डकारानुप्रास

डोलि डोलि डर के डगर डगर बीच
निडर फिर्‌यो मैं डिंभी डंका देत भाँड सो।
दुरित के डागन के डाडे मे सुडांडो गाडि
डगर्‌यो न डूँड ही सो पायो तहाँ मांडसो।
दंडित अदंड दै अदंडिन को दंड दीन्ह्यो
डर्‌यो यमदंडै नहीं मंडित सुसाडसो।
भवनिधि डूबत उबारौ रघुराजै नाथ
विष सौ विषै विहाइ पायो तहाँ षाँडसो।।५६।।

भाषार्थ

मैं डर वाले या भयंकर रास्तों के बीच डोलता रहा। मैं युवा पशु, वहाँ भाँड के समान डंका देते हुए निडर होकर घूमता फिरता रहा। मैंने पापकर्म की गलियों और रास्तों में डण्डा गाड़ दिया। वहाँ से ठूँठे वृक्ष के समान जरा भी नहीं हटा। इस प्रकार वहाँ दोष तथा अनर्थ ही पाया। मैंने दण्डयोग्य या अपराधी लोगों को दण्ड नहीं दिया, पर दण्ड के अयोग्य लोगों को दण्ड दिया। मैं बढ़िया साँड के समान सुभूषित होकर यमदण्ड को भी नहीं डरा। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे नाथ! मैंने जहाँ विष के समान विषयों को छोड़ा वहाँ आपको पाया। मैं संसार समुद्र में डूब रहा हूँ, मुझे उबारो।

ढकारानुप्रास

टेर टेर टेर कै कै काढ़ि दीन्ह्यों गाढ़ो ज्ञान
ह्वै गयो अगूढ़ गूढ़ ढील्यो न ढिठाई को।
ढूँढ़ि ढूँढ़ि पापन के ठौरन ह्वै विषै ढोर
ढोसि ही पर्‌यो मैं मूढ़ न डरि बुढ़ाई को।
ढोके ढोके ढोसा खाइ टोयो मैं कुढंग ढोके
निपुण विमूढ़ता के गढ़ के गढ़ाई को।
ऐसो ढब ढंग देखि ढकिल्यो तिहारे ढिग
जगदीश ढांको रघुराज की ढिठाई को।।५७।।

भाषार्थ

मैंने व्यर्थ चिल्ला चिल्ला कर अपने गम्भीर ज्ञान को निकाल दिया, अलग कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट भाव भी गूढ या अस्पष्ट हो गए, फिर भी ढिठाई नहीं छोड़ी। मैं विषयरूपी पशु द्वारा ढूँढ़ ढूँढ़ कर पाप के स्थानों में ढोस कर गिराया गया। वहाँ मैं पड़ा रहा तथा बुढ़ापे को नहीं डरा। मैंने चलते चलते धोखा खाया तथा खराब ढंग को ढोते हुए उसे ही टटोलता रहा। मूढ़ता के गढ़ को गढ़ने में बहुत निपुण रहा। ऐसा गजब ढंग देखकर तुम्हारे किनारे ढकिल कर आ गया। अतः हे जगदीश! अब (कवि) रघुराज की ढिठाई को ढको।

तकारानुप्रास

तरकि तरकि हौं अतोष तरुमूल कीन्ह्यों
तायो नहीं तन तोष तहँ बहुतेरी है।
तोप्यो तोम तामस में तिरिया तनूज हेत
तप्यो तुच्छता पै तक्यो संतन तरेरी है।
त्वरिता तिलक तापी तपते विहीन अति
तेष को तुरंगी करौं तरफ चितेरी है।
ताते जगदीश रघुराज तकि लीन्ह्यो तुम्हैं
मोंहि तो तमाम तारिबे की आश तेरी है।।५८।।

भाषार्थ— मैंने झुंझला झुँझला कर पेड़ की जड़ तक असन्तोष किया है। फिर भी शरीर में सन्तोष नहीं, बहुत तृष्णा है। स्त्री और पुत्र के लिये स्तोम अर्थात् प्रार्थनाओं के छन्द अँधेरे में ढक गए। फिर भी तुच्छता की ओर ताकते रहे तथा सन्तों को तरेरते रहे। तिलक लगाने में तेज रहे पर तपस्वी होकर तपस्या से विहीन रहे। द्वेष को घोड़ा बना कर तेज दौड़ाते रहे तथा उसी तरफ चित्त किये रहे। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे जगदीश! इसलिये हमने तुम्हारी ओर देखा है। तुम हमें पूरी तरह तारोगे, यही तुमसे आशा है।

अनुशीलन— संस्कृत तृष्णा का प्राकृत में 'तन्हा' बनते हुए उससे यहाँ 'तहँ', शब्द विकसित है। संस्कृत में 'द्वेष' शब्द प्रसिद्ध है। पर संस्कृत की ही 'त्विष्' धातु से निर्मित 'त्वेष' शब्द प्रसिद्ध नहीं है। पर यहाँ 'त्वेष' से निर्मित 'तेष' इस बहुमूल्य शब्द को जीवित रखा गया है।

थकारानुप्रास

थिरता को थुरिकै अथिरता में थान कीन्ह्यों
थांभ्यो ना सुपंथ थंभ कथत कथोरी है।
कथित व्यथा की कथा थाप्यो सुखनाथ मानि
दियोउ थपाय धर्म दैदै थपथोरी है।
थक्यो नहीं थोरहूँ बितावत वृथाहूँ बैस
पीके कलिक्वाथ लह्यो थलता अथोरी है।
हौं तो मैं अनाथ नाथ बेच्यो जगन्नाथ हाथ
रघुराज तारन की बात तोंहि थोरी है।।५९।।

भाषार्थ— स्थिरता को कूट कर या नष्ट करके अस्थिरता में स्थान बनाया। अच्छे रास्ते तथा अच्छे खम्भे को नहीं थामा। सदा ऊटपटांग कहते रहे। आपको सुखनाथ मानते हुए व्यथा की कहानी कही। धर्म को नीचे करके उसे थपकी दे दिया। मैं जरा भी नहीं थका तथा व्यर्थ उमर बिताता रहा। सुरापान करते हुए बहुत छिछलापन प्राप्त किया। मैं अनाथ हूँ, अतः हे नाथ! मैंने आप जगन्नाथ के हाथ अपने को बेच दिया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि आपके लिये तारने की बात बहुत आसान है।

अनुशीलन— हिन्दी में सामान्यतः 'स्तम्भ' धातु से विकसित 'थामना' क्रिया का तथा वैदिक 'स्कम्भ' से विकसित 'खम्भा' संज्ञा शब्द का प्रयोग होता है। पर यहाँ 'स्तम्भ' से ही 'थांभ्यो' तथा 'थंभ' इन दोनों का प्रयोग किया गया है।

संस्कृत तथा प्राकृत में छोटे अर्थ में एर तथा आरि प्रत्यय का विकास हुआ है। फलतः संस्कृत में 'दासेर' तथा प्राकृत में 'सामनेर' तथा अगले श्लोक ६० में 'दमारि' जैसे शब्द विकसित हुए हैं। बघेली जैसी विभाषाओं में ओर प्रत्यय के विकास से 'पश्च' से 'पछोरा' जैसे शब्द बनाए गए हैं। इसी क्रम में यहाँ अभद्र कथन अर्थ में 'कथा' शब्द से 'कथोरी' का प्रयोग किया गया है।

दकारानुप्रास

दौलत दमारि देह दाह्यो देव दीन्ही दिव्य
दुनी में देखायो दगादारी दीह षूसरो।
दून दून हेत कियो दुनियाँ में लेन देन
दगा ही दिखानी ज्यों विदाहि बोहे ऊसरो।
दान को दरिद्रो भयो दया में दिवानो दिल
द्वेष को दिवानो दुष्ट दुरितसों धूसरो।
अब रघुराज दीनताई को देखैया द्रुत
विन जगदीश जग दीखत न दूसरो।।६०।।

भाषार्थ

दौलत तथा तुच्छ सम्पत्ति के लिये देवताओं की दी हुई दिव्य देह को जला दिया। पर दुनियाँ में केवल खूसट धोखाधड़ी ही दिखाई दी। दुगुना तथा उससे भी दुगुना बनाने के लिये दुनियाँ में लेन देन करते रहे। सर्वत्र व्यर्थ धोखा ही दिखाई दिया— जैसे ऊसर खेत में जला बीज बोया जाय। यह दिल दान में दरिद्र हुआ, फिर भी (दिखावटी) दया में दीवाना हुआ। यह दुष्ट पापकर्म में मलिन मन द्वेष में दीवाना हुआ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि अब शीघ्र ही दीनता को देखने वाले वही जगदीश हैं। दुनियाँ में उन जगदीश के बिना दूसरा नहीं दीखता।

धकारानुप्रास

धरनी धरमधुर धारन धनुर्धरेन्द्र
धराधर धाराधाराधार आनाधाराधार।
धन धन धाम धरनीहूँ ते अधीर ध्रुव
नाथ अंघ्रि धूरि धारैं सुरधुनीधाराधार।
अधन के हौ धन अधीरन के धीरधाकी
अधरम धक्षक सुधर्मिन के सुधाधार।
अधम धरेश रघुराज धाय तेरी ओर
अधम उधार गुण तेरई रह्यो अधार।।६१।।

भाषार्थ

धरती तथा धर्म की धुरा को धारण करने में आप उच्चतम धनुर्धर के समान हैं। आप धरती को धारण करने वाले तथा धारा के आधार के आधार तथा अनाधार लोगों के भी आधार है। सम्पत्ति, आवास तथा धरती को धारण करने में निश्चय ही अधीर आपके चरण धुरा को तथा देवनदी गंगा की धारा को धारण करते हैं। आप निर्धन के धन हैं तथा अधीर लोगों को धैर्य देने वाले हैं। आप अधर्म को जलाने वाले तथा सुधर्म लोगों के अमृतरूपी आधार हैं। अधमों के ईश्वर (कवि) रघुराज आप के पास भाग कर आए हैं। इस समय आपका 'अधम उद्धार' वाला गुण ही आधार है।

अनुशीलन

संस्कृत में 'जलाने वाले' अर्थ में दाहक बनता है। पर यहाँ 'भक्षक' के सादृश्य पर 'धक्षक' शब्द बनाया गया है।

नकारानुप्रास

नाकिस निलज्ज नीतिनष्ट निठुराई निष्ठ
नारीनेम में निविष्ट निगम निरासी है।
निपट निपुण नटखट में निपान नीच
निगुणि नदान निरवाण न्याय नाशी है।
नारकी को नायक निवाहक निषिद्धता को
निंदा को निकेत नाक नेती न निकासी है।
अस रघुराजै भवनीरनिधि ना शिवे को
एकै तोषनाथ नीलाचल को निवासी है।।७२।।

भाषार्थ— मनुष्य पूर्णतः निर्लज्ज, नीति का विरोधी, निष्ठुरता में लगा हुआ स्त्री के नाम में बसा हुआ तथा वेद का खण्डन करने वाला है। शरारत में अत्यन्त निपुण, अत्यधिक नीच, बिल्कुल नादान तथा मोक्ष के न्याय का नाश करने वाला है। नरक के मार्ग का अग्रणी तथा निषिद्धता का निर्वाह करने वाला है। निन्दा का आवास स्थान है तथा अच्छाई जरा भी उससे नहीं निकलती है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि नीलाचल में निवास करने वाले जगदीश एकमात्र संसार समुद्र को सन्तुष्ट करने वाले हैं।

अनुशीलन— संस्कृत में 'निपान' शब्द निश्शेष पान या सम्पूर्ण पानी पीने के लिये प्रयुक्त होता है। यही शब्द यहाँ लक्षणा वृत्ति से 'अत्यधिक' अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

पकारानुप्रास

पुहुमी प्रगटि परमोद हेत कीन्ह्यों पाप
परिकै प्रबल पाश पापी संग सपरो।
पेरि पेरि पाहन को पायो तो कछू न, तापै
पूरी भै न प्यास पेश ह्वै के पुनि चपरो।
पाँवर की पावनी परेश प्रीति पेख्यो नाहीं
परम अपावन न मोसो अब अपरो।
पतित के पावन कृपा कै पार कीजे मोहि
रघुराज पतित तिहारी पौंरि में परो।।७३।।

भाषार्थ— इस पृथिवी में प्रकट होकर आनन्द के लिये पाप किये। पापी तथा प्रबल पाश के संग में पड़कर सेवा की। पत्थर को बार-बार पेरकर तो कुछ नहीं पाया। फिर भी प्यास पूरी नहीं हुई, अतः सामने आकर जबान लड़ाते रहे। नीच को पवित्र करने वाली ईश्वर की प्रीति को नहीं देखा। मुझसे बड़ा कोई दूसरा परम अपवित्र नहीं है। पतित के पावन! कृपा करके मुझे पार कीजिये। मैं पतित (कवि) रघुराज तुम्हारे पैरों में पड़ता हूँ।

अनुशीलन— हिन्दी में 'पत्थर' शब्द का मूल 'प्रस्तर' शब्द 'विस्तर' आदि के समान किसी भी विस्तृत वस्तु के लिये प्रयुक्त हो सकता है। अतः पत्थर के लिये सर्वाधिक उचित शब्द 'पाषाण' ही है। उसकी ही यहाँ 'पाहन' शब्द के अन्तर्गत सुरक्षा की गई है।

यहाँ 'कुमार' से 'कुवाँर' के समान 'पामर' से 'पाँवर' शब्द विकसित है।

फकारानुप्रास

फुरता फुरति नहिं फूल्यो है फिकिर फूल
फाव्यो है फरेब रंग फीक फुरताई सों।
औगुण के फेर हीसों फिरिगे सकल गुण
फाटि गए फाटक सुमति फटहाईसों।
फले नहीं फांद एको केरि केरि फाडो फड्यो
फाँस में फँस्यो मै अपने ही फुहराईसों।
फिरत फुफुंदासो हौ अफर्‌यो सफर करि
रघुराज साफ होत तेरिये सफाई सों।।६४।।

भाषार्थ

मेरी स्फूर्ति प्रस्फुटित नहीं होती, पर चिन्तारूपी फूल खिले हैं। फरेब या धोखाधड़ी के रंग खूब फबे हैं, स्फूर्ति फीकी पड़ गई है। अवगुणों के फेर में सम्पूर्ण गुण नष्ट हो गए। वस्त्रों के फटने के समान सुमति के सभी फाटक फट गए। कोई भी फन्दा नहीं फला तथा बार-बार जुए के फाड़ में फँस गए। मैं अपने ही फूहड़पन से फाँस में फँस गया। मैं फफूँद के समान इधर उधर अवस्थित रहा तथा यात्रा करके अघा गया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं तुम्हारी सफाई से ही पवित्र होऊँगा।

बकारानुप्रास

बार बार बाग्यो विश्वबीच में बड़ाई हेत
वानिक वनिक बनि विषय बाजार में।
वारवधू वाम वित्त बँधुवास वासवाजी
वसुधा वितुंड बँध्यो बंधन विकार में।
विगरि विशेषि गयो बूझ्यो नहीं बुद्धिहीन
व्यथा बोझ बोझे बड़ो वीर मै विगार में।
तेरे बाहुबल को विशेष बल मोको अब
बिक्यो रघुराज वासुदेव जी के बार में।।६५।।

भाषार्थ

मैं बार बार संसार (रूपी समुद्र) की तरंगों में तथा व्यापारी और सौदागर बनकर विषय रूपी बाजार में बार-बार घूमता रहा। वारांगना, स्त्री, धन सम्पत्ति, बन्धु, निवास, घोड़े, धरती आदि के लिये बन्धन विकार में मुँह फैलाकर बँधा रहा। मैं बुद्धिहीन अत्यधिक बिगड़ गया, पर समझा नहीं। व्यथा का बोझ बहुत बढ़ गया। मैं बिगाड़ने में वीर रहा। अब मुझे विशेष रूप से आपके बाहुबल का ही बल है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं वासुदेव के दरबार में बिक गया।

भकारानुप्रास

भटकि भटकि भीख माँगि माँगि भौन भौन
भाटसों भवाटवी में भूल्यो मै भलाई को।
भलकै सुभाव भगवान को भुलाइ दीन्हों
भेले परि भोगिन को भानि भक्तिताई को।
भेषसो भनत नहीं भीति कुछ भानुज की
भोजन के हेत भार भार्‌यो भटताई को।
अब रघुराज भागि भद्र के भँडारो भिर्‌यो
भूरि है भरोस बलभद्रजू के भाई को।।६६।।

भाषार्थ

मैं घर घर में भटक भटक कर भीख माँग माँग कर भाट के समान संसाररूपी समुद्र में भलाई को भूल गया। भूलने के स्वभाव के द्वारा भगवान् को भुला दिया। मूर्खता से भोगियों की भक्ति को ही अच्छा समझा। मैं डर कर कहता हूँ कि मुझे शनिग्रह का कोई डर नहीं रहा। भोजन के लिये भटताई के भार को सम्हाले रहे। अब रघुराज भागकर भद्र के भण्डारे में भिड़ गए। अब बलभद्र जी के भाई का ही अत्यधिक भरोसा है।

मकारानुप्रास

मोह मद मातो मूढ़ माया में महातमा ह्वै
मुद के निमित्त ना मनायो है महेश को।
रघुराज मान्यो मही मंडल महीश मौज
मत्सरी मिजाजी मानमंडित महेश को।
मानस मतंगम मनोज को महाउतकै
ममताम वासी भयो मान्यो मै ममेश को।
माया के महोदधिसों ऐसे मतिमंद को
मुकुंद है करैया पार मोसो अधमेश को।।६७

भाषार्थ

मोह तथा मद से मूढ माया में महात्मा होकर भौतिक आनन्द के लिये मैने महेश को नहीं मनाया। (कवि) रघुराज ने पृथिवी मण्डल में महेश को मौज, मत्सर रखने वाला, मिजाजी तथा अभिमान से मण्डित माना। मानरूपी हाथी पर कामदेवरूपी महावत करके ममता में वासी हुए तथा अपने ईश को भी ऐसा ही माना। माया के महासमुद्र में पड़े हुए इस प्रकार के मतिमन्द को तथा मेरे समान अधमों के स्वामी को मुकुन्द ही पार करने वाले हैं।

रेफानुप्रास

रोज रोज रागन के रंग ही में रंगि रंगि
रीझि गयो रोम रोम भयो ना नराज है।
रोष रोजगार राख्यो रोप्यो ना रहम रूख
रासभसों रेकि रोयो रुक्यो ना कुराज है।
रबड़ी रचत राख ह्वैगे अनरीति ऐसी
रोयो रोटी राँड हेत रांघट रवाज है।
रंजहौं रुवाव हीन रह्यौ नहीं दूसरे को
रह्यो जगदीश रावरोई रघुराज हैं।।६८।।

भाषार्थ

प्रतिदिन के आनन्दोत्सवों के रंग में रंगते हुए रोम रोम रीझ गया। उससे बिल्कुल नाराज नहीं हुए। क्रोध को रोजगार बना लिया तथा दयारूपी वृक्ष नहीं लगाया। गधे के समान रेंकते हुए रोया, रुका नहीं। ऐसी खराब हालत है। रबड़ी बनाते-बनाते राख हो गई— ऐसी कुरीति है। रोटी तथा राँड के लिये रोता रहा— ऐसा रद्दी रिवाज है। मैं स्वाभिमान से हीन होकर दुखी हूँ। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं दूसरे का नहीं रहा, हे जगदीश! केवल आपका ही रहा हूँ।

अनुशीलन

हिन्दी में वृक्ष से विकसित रूप प्रचलित नहीं है। पर बघेली में वृक्ष का तद्भव रूप— 'रूख' को जीवित रखा गया है।

लकारानुप्रास

लालची लचार लोभी लांच को कुलांच वादी
लावरो लुटेरो लाठलाई को लखावनो।
लाजते विहीन लोक लालन के लायक ना
ललित हौं लोगन लुगाइन के लावनो।
लखि लखि लाख लाख विषै लहरानी मति
लपटि गयो मै अब कौन बिलगावनो।
लुंज भयो लटो रघुराज लरहीनै अब
जगन्नाथ हाथ रह्यो पार को लगावनो।।६९।।

भावार्थ

मैं लालची, लाचार, लोभी, घूस या रिश्वत के लिये झूठ बोलने वाला रहा। मैं असत्यभाषिता, लुटेरापन तथा लठैती को ही देखता रहा। मैं लज्जा से विहीन होकर लोगों को प्रसन्न करने के लायक नहीं रहा। मैं केवल लोगों तथा स्त्रियों के लावण्य या सौन्दर्य से ही प्रसन्न होता रहा। लाखों लाख विषयों को बार-बार देखकर मेरी बुद्धि चंचल हो गई। मैं उन विषयों में लिपट गया, अब मुझे कौन अलग करता। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं लुंज हो गया, छोटा तथा प्रसंग से हीन हो गया। अतः हे जगन्नाथ! पार लगाने के लिये आपका ही हाथ शेष रहा है।

अनुशीलन

संस्कृत के 'लोक' शब्द से 'लोग' निर्मित हुआ है। पुनः स्त्रीलिंग में 'पण्डित' से 'पण्डिताइन' के समान 'लोग' से 'लोगाइन' नामक नया शब्द निर्मित किया गया है। इसका प्रयोग मानस में भी प्राप्त है— वृन्द वृन्द मिली चलीं लोगाई — बालकाण्ड पृ. २०३

सकारानुप्रास

शून शीलताई ते शठाई ते न शून साँचो
सूमताई सींचो शुद्धताई तो सिधाइगौ।
सरस सकोचताई सरसी सुरापिन की
संत सा सनेहताई सिगरी सकाइगौ।
साहब समर्थ सांकरे के हौ सहाइ सदा
साधन सुरति सिंधु साहस समाइगौ।
रघुराज शरण समर्थ हू में कहाँ रह्यो
जो पै शरणागत की शरम सिराइगौ।।७०।।

भावार्थ

मैं शील या सच्चरित्रता से शून्य हुआ, पर सचमुच शठता से शून्य नहीं हुआ। मैंने कंजूसी को सींचा तथा मुझसे शुद्धता सिधार गई या चली गई। सुरापान करने वालों की तरह अच्छा संकोच चला गया तथा सन्त की तरह का सम्पूर्ण स्नेह अन्दर घुस गया। आप साहब समर्थ ईश सदा संकरे या छोटे लोगों के सहायक हैं। सम्पत्ति के साधन तथा आनन्द के समुद्र में साहस समा गया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि मैं आप शरण देने में समर्थ के पास कहाँ रहा। मुझे शरणागत की सम्पूर्ण शरम या लज्जा समाप्त हो गई।

हकारानुप्रास

हेरि हेरि हार्‌यो हितकारी नाहिं हेर्‌यो कहूँ
हेत वो हरामन सो अब लो बहाल है।
हय हाथी हरिणाक्षी हेत हुघ हुयो खूब
हटिगो हुलासहू कि ह्वै गयो बिहाल है।
हीरा हेरवाई कियो हासिल विहोस, हाड़
हिको होम दियो या हमेश हीको हाल है।
हरिहरवर रघुराजै हरे हँसि हेरि
करि कै हमारो कीजै हाल ही निहाल है।।७१।।

भावार्थ

मैं खोज खोज कर हार गया, पर कहीं हितकारी नहीं खोज मिला। वह मूर्खों के समान अब भी छुट्टा घूम रहा है। घोड़े, हाथी तथा स्त्री के लिये वह खूब प्रसन्न हुआ। पर अब प्रसन्नता नहीं रही तो बेहाल हो गए। हीरा को गुमा कर बेहोशी को हासिल किया। अपनी हड्डियों को ही जला दिया, यही सदा का हाल है। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हरिहर हमसे हँस कर तथा हमें खोज कर हमारा उद्धार करें, क्योंकि हमारा तो हाल ही बेहाल है।

अनुशीलन

सामान्यतः 'हृष' धातु तथा हर्ष शब्द से प्राकृत में 'हरष' या 'हरषि' शब्द निर्मित हैं। मानस में भी इनका बार-बार प्रयोग है। पर यहाँ 'हृष' से बने 'हुघ' शब्द के प्रयोग से एक विशेष विकास की प्रवृत्ति को जीवित रखा गया है। साथ ही यहाँ 'हुलासहू' का प्रयोग संस्कृत के 'उल्लसति' से विकसित है।

इसके आगे सवैया छन्द है—

औगुण जो गनिहो प्रभु मेरे
नहीं गनि पैहो गयन्द उधारी।
हैं गुण एको नहीं गरुए
जेहिते परसन्नता होइ तिहारी।
पै गति एक ही पारसगंग
बड़े अपनावत दोष बिसारी।
राखहु या रघुराज की लाज
दयानिधि आपने ओर निहारी।।७२।।

भावार्थ— हे प्रभु! हे गजेन्द्र का उद्धार करने वाले! यदि आप मेरे अवगुण गिनेंगे तो नहीं गिन पावेंगे। मेरे पास एक भी गरिमापूर्ण गुण नहीं है, जिससे आपको प्रसन्नता होवे। परन्तु पारसमणि तथा गंगा की एक ही गति है— वे महान् दूसरों का दोष भूल कर अपना लेते हैं। हे दयानिधि! अपने ओर देखकर रघुराज की लाज रखिये।

हौं तो रह्यो जसहू तसहू
भल भोग्यो अभाग बसै दुख भारी।
तापर रोज ही रोज अनेक
करों अपकर्मन वैन उचारी।
आश चुकी बनिबै की सबै
अब तो तुमहीं परो नैन निहारी।
है रघुराज गरीब की लाज
गरीबनेवाज के हाथ हमारी।।७३।।

भावार्थ— मैं यहाँ जैसे तैसे रहा। बहुत अभाग्य भोगा, मुझमें बहुत भारी दुख रहता है। तिस पर भी मैं प्रतिदिन वाणी से उच्चारण करते हुए अनेक कुकर्मों को करता हूँ। अब तो बनने की आशा समाप्त हो चुकी है। अब तो तुम पर ही आँखें निहार रही हैं। (कवि) रघुराज कहते हैं कि अब हमारी गरीब की लाज आप दीनबन्धु के हाथ ही है।

हौं अपराध हजारन भाजन, आनन कैसे तुम्हें दरशाऊँ।
तापर रोज ही रोज मनोज, सु मेरे हि खोज पर्‌यो कहँ जाऊँ।
पै रघुराज ढिठाई करों कछु, कौन को ऐसे समै गोहराऊँ।
श्री जगदीश दयानिधि छोड़िकै, दूसरो दीन को बंधु न पाऊँ।।७४।।

भाषार्थ— मैं हजारों अपराधों का स्थान हूँ, मैं तुम्हें कैसे अपना मुँह दिखाऊँ। फिर भी कामदेव हर रोज मेरी ही खोज में पड़ा रहता है, मैं कहाँ जाऊँ। इस पर मैं (कवि) रघुराज कुछ ढिठाई करता हूँ। इस समय किसे बुलाऊँ। श्री जगदीश दयानिधि को छोड़कर मैं किसी दूसरे को दीनों का बन्धु नहीं पाता।

साहेब साँचो समर्थ कहाँ, अस सेवक हेत सहै दुख भारी।
भूप लिये सफरी ह्वै हरि, हनि दानव को लियो वेद उधारी।
दूजो द्रवै नहिं दीन्हें विना, तुमही बिन दीन्हें द्रवो गिरधारी,
दीन को नातो दयानिधि देखि, द्रवो रघुराजै दया रोजगारी।।७५।।

भाषार्थ— साहब, सच कहता हूँ, आपने इस सेवक के लिये भारी दुख सहे हैं। अन्य कोई इसमें कहाँ समर्थ है। हरि ने राजा के लिये शफरी अर्थात् मछली होकर दानव को मारा तथा वेदों का उद्धार किया। कोई भी दूसरा दिये बिना द्रवित नहीं होता, गिरधारी ! तुम्हीं बिना दिये प्रसन्न होते हो। जिनका दया ही रोजगार है ऐसे हे दयानिधि! अपना दीनों के साथ नाता देखकर (कवि) रघुराज पर प्रसन्न होवो।

तुलना एवं सन्दर्भ— भागवत ८.२४ के अनुसार प्रजापति ने राजा मनु के लिये मत्स्य का अवतार धारण किया था। उन्होंने हयग्रीव नामक राक्षस को मारा। क्योंकि वह सब वेद चुरा ले गया था। इस प्रकार प्रजापति ने मछली होकर वेदों का उद्धार किया था।

मोह महावन को कटिहै कहौ
काम कठोर किला को को टोरिहै।
लूटिहै को यह लोभ को पत्तन
को मदमत्त मतंगन मोरिहै।
मत्सर की तप कौन उतारिहै
को पुनि कोप के सेत को फोरिहै।
हा जगदीश तुम्हैं बिन या
रघुराजकोको भवबन्धनछोरिहै।।७६।।

भाषार्थ— बताओ, मोहरूपी विशाल जंगल को कौन काटेगा। कामरूपी कठोर दुर्ग को कौन तोड़ेगा। लोभ के इस नगर को कौन लूटेगा। मत्सर या ईर्ष्या की ताकत को कौन उतारेगा। साथ ही कौन क्रोध के पुल को फोड़ेगा। हे जगदीश! तुम्हारे बिना इस (कवि) रघुराज को संसार रूपी बन्धन से कौन छुड़ाएगा।

रावरी माया विमोहित ह्वै
करौं पाप अनेकन हौं जग आई।
होत अनेकन हैं अपराध
बढ़्यो उसमें दुखसिन्धु सदाई।
तातें करों विनती जगदीश
कि आपनि माया को देहु छुड़ाई
की अपराध क्षमा करिये
रघुराजै न दीसति और उपाई।।७७।।

भाषार्थ— आपकी माया से मोहित होकर मैं इस जग में आकर अनेक पाप करता हूँ। मुझसे अनेक अपराध होते हैं। उनसे सदा दुखरूपी समुद्र ही बढ़ता है। इसलिये हे जगदीश! मैं विनती करता हूँ कि अपनी माया को छुड़ा दीजिये। मेरे किये अपराध को क्षमा कीजिये। (कवि) रघुराज को अब और उपाय नहीं दीखता।

देवन दीह कलेश पर्‍यो जब
ह्वै वपुकच्छप मंदर धारे।
ऐंच्यो सुधा मथि क्षीरधि पानि
जबै सब वीर सुरासुर हारे।
नारी भये निजदासन हेत
कबै केहि ना सब भाँति सुधारे।
दीन दुखी रघुराज के हेत
बनी किमि नाथ दया क्यों बिसारे।।७८।।

भावार्थ— जब देवताओं के ऊपर महान् क्लेश पड़ा, तब आपने कच्छप अर्थात् कछुए का शरीर या अवतार के द्वारा मन्दराचल को धारण किया था। आपने समुद्र का मन्थन करके हाथ से अमृत को खींचा था। उस समय सभी वीर देवता या असुर हार गए थे। अपने दासों के लिये आप स्त्री बन गए। आपने सब तरह से कब किसे नहीं सुधारा। फिर दीन दुखी (कवि) रघुराज के लिये हे नाथ! आपने दया क्यों भुला दी।

तुलना एवं सन्दर्भ— मन्दर एक पर्वत का नाम है। पुराणों के अनुसार देवताओं ने क्षीरसागर का मन्थन करने के लिये इस पर्वत का उपयोग किया था। इसे समुद्र में डूबने से बचाने के लिये विष्णु स्वयं अद्भुत कछुए का रूप धारण करके इसे अपने ऊपर धारण किया था। (कृत्वा वपुः कच्छपमद्भुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार — भागवत ८.७.८)। उसके पश्चात् अमृत बाँटने के समय देवताओं और असुरों में झगड़ा होने की स्थिति में आपने 'मोहिनी' रूप धारण किया था।

दानव नाथ दुरासद दीरघ
द्रोह कियो सुत पै अति माख्यो।
खँभ को फारि विदारि खलै
प्रभु कीन्हों चरित्र जो वेद न भाख्यो।
दीनन हेत कबै हे दयानिधि
दुस्तर कौन ना सागर नाख्यो।
त्यों रघुराज की लाज को राखिये
ज्योंप्रह्लादकीलाजकोराख्यो।।७९।।

भाषार्थ— हे नाथ! दानव (हिरण्यकशिपु) ने अपने पुत्र (प्रह्लाद) पर दुखद तथा महान् क्रोध किया तथा उस पर बहुत क्रुद्ध हुआ। खम्भे को फाड़कर तथा दुष्ट का विदारण करके प्रभु ने वह चरित्र दिखाया जो वेदों ने भी नहीं कहा है । हे दयानिधि! आपने दीनों के लिये कब कौन सा दुस्तर सागर नहीं नाका। आप (कवि) रघुराज की उसी प्रकार लाज रखिये जैसे प्रह्लाद की लाज रखी थी।

अनुशीलन— यहाँ 'माख्यो' क्रिया ऋग्वैदिक 'म्रक्ष' धातु से विकसित है। इसका प्रयोग लौकिक संस्कृत में प्राप्त नहीं है। पर अवधी बघेली ने इसे जीवित रखा है। अतः यह प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानस में भी इसका प्रयोग प्राप्त है— 'माख्यो लखन कुटिल भई भौंहैं' (बालकाण्ड पृ. २६०)

तुलना एवं सन्दर्भ— कश्यप ऋषि का एक पुत्र हिरण्यकशिपु विष्णु का घोर विरोधी था। पर इसका पुत्र 'प्रह्लाद' विष्णु का अनन्य भक्त था। विष्णु ने इस अपने भक्त को बचाने के लिये नृसिंह का रूप धारण करके हिरण्यकशिपु का वध किया था।

धर्म धुरा धरा धारन को
धरणी को उधार्‌यो लगी नहीं देरी।
दासन हेत विनिंदित शूकर
योनि धर्‌यो कै कृपा बहुतेरी।
केते अघी अपकर्मी अलाल की
काटि दियो भव फाँसी करेरी।
पौंरि परो रघुराज कहै
पुरुषोत्तम पानि में है पति मेरी।।८०।।

भावार्थ— धर्म की धुरा धरा का धारण करने के लिये धरती का उद्‌धार करने में आपको देरी नहीं लगी। दासों के लिये आपने विनिन्दित शूकर की योनि धारण करके बहुत कृपा की। कितने ही पापी, कुकर्मी, आलसी लोगों की संसार रूपी कठिन फाँसी को आपने काट दिया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि हे पुरुषोत्तम! मै पाँव पड़ता हूँ। आपके हाथों में ही मेरी लाज है।

तुलना एवं सन्दर्भ— कहते हैं कि सृष्टि के आदि में सर्वत्र जल ही जल था। तब प्रजापति वराह का रूप धारण करके जल के भीतर डूब कर पृथिवी को नीचे से ऊपर ले आए। इस दोहे का वर्णन भागवत के इस श्लोक से तुलनीय है—

यत्रोद्यत: क्षितितलोद्‌धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्त:।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो ददार।।
—भागवत २.७

इस घटना का मूल तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.६ में इस प्रकार कहा गया है—

स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत। स पृथ्वीमध आर्च्छत्।।

दासन हेत भये बटु वामन
दानव नाथ पै हाथ उठायो।
त्रैपदव्याज त्रिलोक को नाप्यो
त्रिलोक में तातै छलीहू कहायो।
साहब कौन समर्थ यों दूसरो
जो जनहेतहुँ जान भुलायो।
हे जगदीश सुनो रघुराज की
बेर क्यों नाथ दया बिसरायो।।८१।।

भाषार्थ— दासों के लिये आप नाटे बच्चे बन गए। हे नाथ! आपने दानव (बलि) पर हाथ उठाया। आपने ३ कदम के बहाने तीन लोक को नाप लिया। इससे तीनों लोकों में छली भी कहे गए। साहब, ऐसा दूसरा कौन समर्थ है, जो लोगों के लिये जान भी भुला दे। हे जगदीश! सुनो, आपने (कवि) रघुराज की बार दया क्यों भुला दी।

तुलना एवं सन्दर्भ— पुराणों के अनुसार एक बार एक दैत्य राजा बलि नर्मदा के उत्तरी तट पर अश्वमेध यज्ञ कर रहा था। उस समय विष्णु वामन रूप में उसके पास गए तथा ३ पग भूमि माँगी। इतनी भूमि मिल जाने पर विष्णु ने अपना विश्वरूप प्रकट किया तथा ३ पग से तीनों लोकों को नाप लिया।

इस कहानी का मूल ऋग्वेद में भी प्राप्त है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे।।

—ऋग्वेद १.२२.१७

कैकर कृष्ण कठोर कुठार
क्षमा छली क्षत्रिन सों छपी जानी।
वायर कीशनि छत्र कियो
क्षिति छोर लो कीरति थोर न ठानी
मोतनभू अघ क्षत्री जुरे
तिमि कैके कुठार कृपा निज दानी।
एक उबार अछघ्न करो
रघुराजै हरी शरणागत मानी।।८२।।

भाषार्थ

केकी अर्थात् मोर के (कण्ठ) के समान कृष्ण कठोर कुठार रखते हुए छली क्षत्रियों को छिप कर जानते हैं तथा उन्हें क्षमा करते हैं। आपने वारण या हाथी को खींच कर उसकी रक्षा की। आपकी धरती की सीमा तक कहीं भी कीर्ति कम नहीं है। मेरे समान पापी क्षत्रिय जुड़े। उन्हें कुठार देकर अपनी कृपा प्रदान की। एक बार हमें उबार कर पापों का विनाश कर दो। (कवि) रघुराज अपने को हरि के शरणागत मानते हैं।

तुलना एवं सन्दर्भ

यहां 'कैकर कृष्ण' इस वचन की मानस के 'केकीकण्ठाभनीलम्' इस उत्तरकाण्ड के प्रथम श्लोक से तुलना की जा सकती है। छिपने अर्थ में 'छपी' का प्रयोग इस ग्रन्थ के श्लोक ८९ में भी देखा गया है। यहाँ 'अछघ्न' शब्द संस्कृत के 'अघघ्न' से विकसित है।

भक्षक जो जलजीवन को
पुनि जाति में नीच निषाद अपावन।
ताहि भर्‌यो भुज धाइ कछू
पदवी दियो राज की विश्व के भावन।
रावरी रीति पै रीझिके हौं
रुजिगार रच्यों शरणागत धावन।
पाँय परौं रघुराजहूँ की
पति राखियो श्री पतितान के पावन।।८३।।

भावार्थ— जो जाति से नीच, अपवित्र निषाद जलजीवन (मछली आदि) का भक्षक था, उस (गुह) को, विश्व को प्रसन्न करने वाले आप जगदीश ने दौड़ कर बाहों में भर लिया तथा राजा का पद दिया। आपकी रीति पर रीझ कर लोगों ने शरणागत पर दौड़ने का रोजगार शुरू कर दिया। मै पाँव पड़ता हूँ कि आप पतितों को पवित्र करने वाले श्री जगदीश, (कवि) रघुराज की भी लाज रखिये।

तुलना एवं सन्दर्भ— यह कथा रामायण से ली गई है। गुह निषादों के राजा थे। वनवास के समय श्रीराम से इनकी भेंट हुई थी। श्रीराम ने इन्हें गले से लगाया था तथा बहुत प्रशंसा की थी। (द्रष्टव्य-रामायण २.५०.४०-४६)

यह कहानी प्रस्तुत कवि द्वारा विरचित 'जगदीशशतकम्' के इस श्लोक से सर्वथा तुलनीय है।

नीचो निषादकुलजो जलजीवभोक्ता
जग्राह तत्करसमर्पितकन्दमूलम्।
कृत्वा सखायमतुलं परिषस्वजे यो
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।।

—*जगदीशशतकम्* श्लोक २६

जाति को पक्षी विरागविहीन
सदा मलमांस अहार अहार्यो।
साधन योग समाधि अनेक
नहीं तिनके तन नेकु निहार्यो।
मीचु निशाचर हाथ लह्यो
प्रभु केवल दीनता तासु विचार्यो।
सो रघुराज की लाज करै
जोजटायु की धूरि जटानि सों झार्यो।।८४।।

भावार्थ— वैराग्य से विहीन, जाति का पक्षी (जटायु) था। जिसने सदा गन्दे मांस का ही आहार किया था। अनेक साधन, योग, समाधि से सम्पन्न श्री जगदीश ने उसके गन्दे शरीर की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। प्रभु ने केवल उसकी दीनता विचारा तथा मरते हुए उस निशाचर को हाथ लगाया। (कवि) रघुराज कहते हैं कि जिसने जटायु की धूल को जटा के समान झाड़ा, वही हमारी लाज की रक्षा करे।

तुलना एवं सन्दर्भ— यह कहानी भी रामायण से ली गई है। जटायु पंचवटी में निवास करने वाले गृध्र का नाम है। रावण द्वारा मारे जाने पर श्री राम ने इसे घायल अवस्था में देखा। श्रीराम ने इसे गले से लगा लिया था। (द्रष्टव्य- रामायण ३.६७.२२-२३)

प्रस्तुत कवि द्वारा जगदीशशतकम् के निम्न श्लोक में यह कहानी अतिसुन्दर शब्दों में अंकित है—

मांसादकं वनचरं दुरितौघयुक्तं
गृध्रं जटायुषमलं परिरभ्य दोर्भ्याम्।
तस्मै ददौ परगतिं यतिदुर्लभां यो
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।।

—जगदीशशतकम् श्लोक २७

साधनहीन मलीन सबै विधि
नामहुँ लेत अमंगलकारी।
स्वप्न विलोकतहूँ मे अभद्र
अपावन अंघसी काननचारी।
ते कपि दौरि भुजानि भर्यो
प्रभु दौरि कै दाहिनी दीठि पसारी।
सोई भरोस भरो रघुराज
गिरो शरणागत आइ तिहारी।।८५।।

भावार्थ— जो साधनहीन है, हर प्रकार मलिन हैं, जिनका नाम लेना भी अमंगलकारी है। जिनको स्वप्न में देखना भी अभद्र है, जो अपवित्र, पापी तथा जंगलों में घूमने वाले हैं, उन कपि, भालू को प्रभु ने दौड़ कर भुजाओं में भरा तथा दाहिनी दृष्टि पसारी। उन्हीं पर (कवि) रघुराज भरोसा करते हुए तथा (पैरों पर) गिरते हुए तथा शरणागत होकर आपके पास आए हैं।

तुलना एवं सन्दर्भ— यहाँ स्पष्टतः रामायण में वर्णित भगवान् राम का कपिराज सुग्रीव हनुमान् आदि से मिलने के प्रसंग का उल्लेख है।

यह वर्णन प्रस्तुत कवि द्वारा रचित 'जगदीशशतकम्' के इस निम्न श्लोक से तुलनीय है—

स्वप्नेऽपि दर्शनममंगलदं वदन्ति
येषां बुधाः स्मरणतो ह्यशुभानि लोके।
तैर्वानरैः सह चकार सुमित्रतां यो
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।।
—जगदीशशतकम् श्लोक २९

कौन विराग विज्ञान कियो
जप कौन सुयोग समाधि लगाई।
आपन हाथन सों फल तेरि
धर्‌यो मुख चीखि परेखि मिठाई।
आपहि ते चलिकै जगदीश
दयानिधि विश्वविख्यात बनाई।
श्री रघुराज सराहि लियो
शबरी फल को सब रीझि के खाई।।८६।।

भावार्थ— (तुम शबरी ने) कौन सा वैराग्य, विज्ञान किया था। कौन सा जप, सुयोग तथा समाधि लगाई थी। जो (प्रभु ने) अपने हाथ से तुम्हारे फल को मुख में रखा तथा चख कर उसके मीठेपन की परीक्षा की। जगदीश स्वयं तुम्हारे पास चलकर अपने दयानिधि भाव को विश्वविख्यात बनाया। श्री रघुराज ने उसे सराहा तथा उस शबरी के सब फलों को रीझ कर खाया।

तुलना एवं सन्दर्भ— यहाँ स्पष्टतः रामायण के शबरी से बेर खाने का प्रसंग वर्णित है।

प्रस्तुत कवि ने 'जगदीश शतकम्' में इस प्रसंग को इस प्रकार वर्णित किया है—

विज्ञानभक्तिविरतीष्टसुधर्महीना
नीचा महावनचरी शबरी हि तस्यै।
भुक्त्वा तदर्पितफलं प्रददौ गतिं यो
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।।
—जगदीशशतकम् श्लोक २८

हौं जो विचारहूँ चित्त मैं नित्यहिं
तौ भखौं पातरि छोड़ि परोसो।
दीसत है दुनियाँ में न देहि
जो दूसर होई बरोबर दोसो।
लाज करो शरणागत की
रघुराज को एकइ भारि भरोसो।
भागबसैं यह योग पर्‌यो
नहिं पापी है मोसों न पावन तोसो।।८७।।

भाषार्थ— मैं चित्त में सदा ही उनका विचार करता हूँ (यदि मैं यह कहूँ) तो मानों पत्तल में परोस कर छोड़ा हुआ खाता हूँ। (अर्थात् मैं यह झूठ ही कहता हूँ)। मुझे पूरी दुनियाँ में कोई दूसरा नहीं दीखता जो तुम्हारे बराबर हो। शरणागत की लाज रखो। (कवि) रघुराज को एक आप पर ही भारी भरोसा है। भाग्यवश ऐसा सुयोग पड़ा है। वास्तव में मुझ जैसा कोई पापी नहीं तथा तुम्हारे जैसा कोई पवित्र करने वाला नहीं हैं।

पूरब जन्म में पाप कियो
बहु ताकी कथा कहौ कौन सुनाई।
रोज ही रोज करौं अबहूँ
अघ जानिहूँ कै नहिं जात भुलाई।
कौन करों विनती मुख लाई
न एकहू भै कबहूँ सेवकाई।
पार करो रघुराज को नाथ
विलोकिके आपनी आप बड़ाई।।८८।।

भाषार्थ— मैंने पूर्व जन्म में बहुत पाप किये हैं। कहो, उनकी कहानी कौन सुनाएगा। अब भी प्रतिदिन पाप करता हूँ। उन पापों को (पाप के रूप में) जानते हुए भी नहीं भूल पाता। मैं मुख में लाकर कौन सी विनती करूँ। मुझसे कभी कोई सेवकाई नहीं हुई। हे नाथ! अपनी बड़ाई आप देखते हुए इस (कवि) रघुराज को पार करो।

अब लों भई सो भई भलकै
अब तो न द्विती अभिलाषनै है।
तिहँरो तो महापरसाद को खाइ
नहीं यम को कछु झांखने है।
तुव बाहन छाहन में छपिकै
सहजै भवसागर नाषनै है।
रघुराज से दीनन की तुमको
शरणागत लाज को राषनै है।।८९।।

भावार्थ— अब तक जो हुआ सो भूल कर हुआ। अब दूसरे की अभिलाषा या इच्छा नहीं है। तुम्हारा महाप्रसाद खाकर यम के पास कुछ भी नहीं झाँकना है। तुम्हारी बाँहों की छाया में छिप कर सहज ही अपने लिये संसाररूपी समुद्र का विनाश करना है। तुमको (कवि) रघुराज जैसे दीन शरणागत के लाज की रक्षा करनी है।

यम संयम नेम व्रतादि किये
न मिलै ज्यों समाधि के लागन ते।
बहु तीरथ दान सुधर्म ते दुर्लभ
त्यों जप योग न जागनते।
फल सोई महापरसाद को दै
बकसो है बिना मुख माँगनते।
तुम नीलाचलै के निवासी भये
रघुराज से पापिन भागनते।।९०।।

भावार्थ— मैंने यम, संयम, नियम व्रत इत्यादि किये। समाधि के भी लगाने से आप नहीं मिले। बहुत तीर्थ, दान, सुधर्म से भी दुर्लभ आप जप, योग तथा जागरण से भी नहीं मिले। आपने महाप्रसाद को देकर बिना मुख माँगे इन सबका फल हमें प्रदान किया। आप (कवि) रघुराज जैसे पापियों के भाग्य से नीलाचल के निवासी हुए हैं।

सेवक जीव हैं, ठाकुर तू
सुत शिष्य हैं मैं तुम हौं गुरुताता।
तू पतितान के पावन हौ
मैं अहौं पतितै यह सत्य देखातो।
त्यों तुम्हरो धरो बानों नितै
हमरो तुम्हरो बहु नात देखातो।
पै रघुराज को पार करो
गुनि कै अपनो शरणागत नातो।।९१।।

भाषार्थ— जीव सेवक है, आप ठाकुर हैं। मैं पुत्र तथा शिष्य हूँ, आप पिता तथा गुरु हैं। आप पतितों को पवित्र करने वाले हैं, मैं पतित हूँ— यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इस धरती में सदा ही तुम्हारे जैसे भेस रखने वाले लोग हैं। हमारा और आपका बहुत सम्बन्ध दीखता है। मेरा आपसे शरणागत का नाता समझते हुए मुझ (कवि) रघुराज को पार करो।

केते उधार कियो अधमै
तुम कीन्ह्यों सुभागी कितेक अभागे।
त्यों शरणागत पालन को
प्रभु बाँधि कै बानो यशै जग जागे।
देख्यो न दोष दयानिधि दास को
दीनन दीन्ह्यों द्रुतै मुख माँगे।
हाय बड़ी अनरीति हरी
रघुराज दुखी रह्यो रावरे आगे।।९२।।

भाषार्थ— तुमने कितने ही अधम लोगों का उद्धार किया। तुमने कितने ही अभागे लोगों को सौभाग्यशाली बनाया। इसी प्रकार शरणागत का पालन करने के लिये प्रभु ने भेस बनाया अर्थात् अवतार धारण किया जिससे यश जागा या सर्वत्र फैल गया। दयानिधि ने दास का दोष नहीं देखा। अपितु दीनों के लिये तुरन्त ही मुँह माँगा दान दिया। हाय, यह बड़ी अरीति हुई कि (कवि) रघुराज तुम्हारे आगे दुखी रह गए।

देखि परै नहिं दूजो दयानिधि
कौन को दास हौं जाइ कहाऊँ।
मायाविमोहित देव सबै
रघुराज कहो भ्रम कासों छुड़ाऊँ।
कौन गरीबनेवाज गोविंद
सो जाहि गरीबी गोहारि सुनाऊँ।
कौन के द्वार पै दौरि अड़ों
असदीनकोबंधुद्विती नहींपाऊँ।।९३।।

भावार्थ— मुझे कोई दूसरा दयानिधि नहीं दीखता। तब मैं किसका दास कहा जाऊँ। सभी अन्य देवता माया से विमोहित हैं। अतः (कवि) रघुराज कहते हैं कि किनसे अपना भ्रम छुड़ाऊँ। दूसरा कौन दीनबन्धु गोविन्द है, जिसके पास जाकर अपने गरीब की गोहार सुनाऊँ। मैं किसके द्वार पर दौड़कर अड़ जाऊँ, तुम्हारे जैसे दीनों का बन्धु दूसरा नहीं पाता।

कौन पुराण पढ़्यो रतिसों
अरु कौन सो दान दियो ब्रजवासी।
ते सिगरे प्रभु खान में पान में
दान में गान में ह्वै गे बिलासी।
कारण यामें दया है दयानिधि
रावरी नीलनगेंद्र निवासी।
दीन दुवारे पर्‌यो रघुराज
अयोग अहै अब होत है हाँसी।।९४।।

भावार्थ— व्रज में निवास करने वाले लोगों ने कौन सा आनन्दपूर्वक पुराण पढ़ा था, उन्होंने कौन सा दान दिया था, जो वे सभी प्रभु के साथ खाने में, पीने में, देने में, गाने में आनन्द से परिपूर्ण हो गए। इसमें कारण केवल आप नीलाचल निवासी दयानिधि की दया ही है। (कवि) दीन रघुराज आपके दरवाजे पर पडे हैं। अब असमय होता जा रहा है और हँसी भी हो रही है।

चादर शाप लहौ तरुयौनि
कुमार धनेश के जे दोउ भाई।
आप उलूखल ही में बँधे
तिनको भवबंधन दीन्ह्यो छुड़ाई।
दूजो दयानिधि को तुमसो
रघुराज को जो दुख देहै मिटाई।
पूतना पापिनी रावरे सों
विषमोलदैमुक्तिलियोबरियाई।।९५।।

भाषार्थ

नारद के शाप से धनेश कुबेर के दोनों कुमार भाइयों ने वृक्षयोनि पाई। आप उलूखल में बँध गए तथा उन्हें संसाररूपी बन्धन से छुड़ा दिया। आप जैसा दूसरा दयानिधि कौन है जो (कवि) रघुराज का दुख मिटा दे। आप से पूतना पापिनी ने विंष मोल देकर जबर्दस्ती मुक्ति प्राप्त कर ली।

तुलना एवं सन्दर्भ

कुबेर के नलकूबर तथा मणिग्रीव ये दो पुत्र थे। एक बार ये दोनों भाई ग़ंगा के किनारे रतिक्रीडा कर रहे थे। नारद ने इन्हें इस दशा में देख लिया तथा वृक्ष बन जाने का शाप दिया। इससे ये गोकुल में दो प्रसिद्ध 'अर्जुन' वृक्ष बने। एक बार यशोदा ने श्रीकृष्ण को दण्ड देने के लिये इन्हें उलूखल में बाँध दिया था। उस समय इन्होंने 'यमलार्जुन' का उद्धार किया था। यहाँ भागवत १०.१०.२२७ तुलनीय है।

काली कलेश रह्यो ब्रज को
बहु दीनन के हित दानव मारे।
कूबरी को प्रभु धाइ मिले
सबै वायक माली को जाय सुधारे।
गोपन गोहन खेल्यो गोविंद
अनेक अघीन को आप उधारे।
पै रघुराज की वार कहो
करुणानिधिक्योंकरुणाकोबिसारे।।९६।।

भाषार्थ— आपने व्रज भूमि के काली नाग के क्लेश का हरण किया। दीनों के लिये बहुत से दानव मारे। प्रभु दौड़कर कूबरी या कुब्जा से मिले। सभी जुलाहों की हालत को सुधारा। गोविन्द गोपों के घरों में खेले। अनेक पापियों का आपने उद्धार किया। पर हे करुणानिधि! कहो, आपने (कवि) रघुराज की बार करुणा क्यों भुला दी।

तुलना एवं सन्दर्भ— यहाँ स्पष्टतः काली दमन तथा कुब्जा से मिलने का वर्णन है।

प्रस्तुत लेखक ने 'जगदीशशतकम्' में इस प्रसंग को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

भोजेन्द्रदास्यनिरता मलिनातिनीचा
कुब्जा तु या मधुपुरे पथि तां विलोक्य।
गत्वा गृहं कमलया सदृशीं व्यधाद्यो
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।।२४।।
जात्या तु वायकवरं हतधर्मलेशं
गत्वा तदीयभवने कृतवान् स्वकम्पः।
वस्त्राणि तद्विरचितानि दधार देहे।
वन्दे प्रभुं पतितपावननामधेयम्।
—जगदीशशतकम् श्लोक २५

जाति को क्षत्री अमर्ष भरो
करों रोज ही मै अपराध हजारो।
काम औ क्रोध दुरासद शत्रु
नचावत नीच न जोर हमारो।
देवहूँ देखैं करैं न सहाय
विचारि मनैं मोहिं दास तिहारो।
हा जगदीश तुम्हैं बिन को
रघुराजकीलाजकोराखनवारो।।९७।।

भाषार्थ— मैं क्रोध से भरा हुआ जाति का क्षत्रिय हूँ। प्रतिदिन हजारों अपराध करता हूँ। दुखदायी तथा नीच शत्रु— काम और क्रोध हमें नचाते हैं, पर हमारा जोर नहीं चलता। देवगण भी मुझे देखते हैं, पर मेरी सहायता नहीं करते। मन में यह सोच कर कि मैं तो तुम्हारा दास हूँ। हे जगदीश! तुम्हारे बिना (कवि) रघुराज की लाज कौन रखने वाला है।

गैयर की पति राख्यो तुम्हैं
ध्रुव की पति राख्यो तुम्हैं गिरिधारी।
राख्यो तथा यदुवंशिन की
प्रह्लाद की राखी सुखंभ को फारी।
त्यों द्रुपदी पति राख्यो दयानिधि
वार उभै दया दीठि पसारी।
त्यों रघुराजहू को शरणागत
जानि प्रभू पति राखो हमारी।।९८।।

भाषार्थ— गजेन्द्र की लाज तुमने ही रखी। तुम गिरधारी ने ही ध्रुव की लाज रखी। यदुवंशियों की भी उसी प्रकार लाज रखी। बढ़िया खम्भे को फाड़कर प्रह्लाद की लाज रखी। इसी प्रकार दयानिधि ने अपनी दोनों दया दृष्टि फैलाकर द्रौपदी की लाज रखी। इसी प्रकार हे प्रभु! मुझ (कवि) रघुराज को भी शरणागत समझ कर हमारी लाज रखिये।

धर्मनरेश की काट्यो विपत्ति
तुम्हीं नृगभूपतिहूँ को उधारे।
मागध बन्दी निवेष नरेश
सहस्त्रदशै युग जाइ निकारे।
आहुक की दियो बंदी विमोचि
सुनौ रघुराज के प्राण अधारे।
धौं मैं न दीन धौं तू न दयानिधि
कारण कौन जो मोंहि बिसारे।।९९।।

भावार्थ— तुमने धर्मराज की विपत्ति को काटा। तुम्हीं ने राजा नृग का उद्धार किया। मागध नरेश के कारागार में बन्दी दसियों हजार राजाओं को मुक्त किया। आहुक को बन्दी होने से विमुक्त किया। अतः (कवि) रघुराज के प्राणों के आधार! सुनो। या तो मैं दीन नहीं हूँ, या तो आप दयानिधि नहीं है। अन्यथा कारण क्या है जो आप मुझे भूल गए।

तुलना एवं सन्दर्भ— इक्ष्वाकु के पुत्र प्राचीन राजा नृग बड़े दानी थे। एक बार भूल से पहले दान की हुई गाय उन्होंने फिर से दान कर दी। फलतः उन्हें एक हजार वर्ष तक गिरगिट होकर कुएँ में रहना पड़ा। अन्त में भगवान् कृष्ण द्वारा इनका उद्धार हुआ था। इसका ही वर्णन ऊपर की पंक्ति में है।

मगध नरेश जरासन्ध की राजधानी गिरिव्रज के कारागार में हजारों नरेश बन्दी थे। भगवान् कृष्ण ने इन्हें मुक्त कराया था।

उग्रसेन का पिता पराक्रमी राजा 'आहुक' को भी इन्होंने बन्दी होने से विमुक्त किया था।

साहेब सों सब भाँति सों सेवक
याचत है अपनो मनकामै।
ताते कियो सब भाँति विनय
नहीं देखिकै आपनो दूसर ठामैं।
हे जगदीश गरीब के गाहक
देहु जो और चहौं मनसामैं।
देहु विशेषि तुम्हारे पदै
रघुराजकोचित्तबसैबसुजामै।।१००।।

भाषार्थ— साहब, आपका सब प्रकार से सेवक अपनी मनोकामना को आपसे माँगता है। इसके लिये मैं आपसे हर प्रकार की विनय करता हूँ। मैं अपनी दूसरी कोई जगह नहीं देखता। हे जगदीश! गरीबों को ग्रहण करने वाले! मैं जो और मन में चाहूँ, उसे प्रदान करो। मुझे विशेष रूप से दो। (कवि) रघुराज के चित्त तुम्हारे ही चरणों में बसते हैं।

इसके आगे दोहा छन्द लिखे गए हैं—

विनय करहुँ करि जोरि कै सुनहु गरीब नेवाज
दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।१।।

भाषार्थ— मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ, दीनबन्धु! सुनो। हे यदुराज! दीनदास (कवि) रघुराज की लाज रखो।

अनुशीलन— इसके आगे ८ दोहों में 'दीनदास रघुराज की राखो लाज यदुराज' यह टेक है। प्रस्तुत कवि द्वारा विरचित 'यादवेन्द्राष्टकम्' नामक ८ संस्कृत श्लोकों में इस टेक के अनुरूप 'पायात् स नो यादवराजसिंहः' का प्रयोग किया गया है।

गरजी करत विनय सकल गुणत न काज अकाज।
दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।२।।

भाषार्थ— मैं अपनी गरज से सम्पूर्ण विनय करता हूँ। मैं करणीय तथा अकरणीय को नहीं समझ पाता हूँ। दीनदास...... आदि पूर्ववत्।

पतितपावनै आप हैं मैं हौं पतितदराज
दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।३।।

भाषार्थ— आप पतितों को पवित्र करने वाले हैं। मैं पतितों का स्थान हूँ। दीनदास...... आदि पूर्ववत्।

मैं शरणागत में परो जानि सिद्ध सब काज
दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।४।।

भाषार्थ— आपसे सब कार्य सिद्ध होंगे, यह जानते हुए मैं शरणागत आपके (चरणों पर) पड़ा हूँ। दीनदास...... आदि पूर्ववत्।

तुम्हें छोड़ी मैं जाऊँ कहँ द्वितियसों कछु नहिं काज।
दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।५।।

भाषार्थ— तुम्हें छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ। मुझे दूसरे से कोई काम नहीं है। दीनदास.....अदि पूर्ववत्।

एक भरोसो एक बल रही आश यक आज
दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।७।।

भाषार्थ— एक ही भरोसा, एक ही बल, आज केवल एक ही आशा रही है। दीनदास.... आदि पूर्ववत्।

बिना तिहारे कर गहे करी भीति यमराज।

दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।७।।

भाषार्थ— तुम्हारे हाथों को पकड़े बिना यमराज डर देगा अर्थात् डराएगा। दीनदास..... आदि पूर्ववत्।

स्वारथ परमारथ सकल देहु सुधारि दराज

दीनदास रघुराज की राखु लाज यदुराज।।८।।

भाषार्थ— स्वार्थ तथा सम्पूर्ण परमार्थ को सुधारने का स्थान प्रदान करें। दीनदास..... आदि पूर्ववत्।

इति सिद्धिश्री महाराजाधिराज श्रीमहाराज
श्री राजा बहादुर श्रीकृष्णचन्द्रकृपा-
पात्राधिकारी श्रीरघुराज सिंह जूदेव कृत

❁ श्री जगन्नाथशतक सम्पूर्ण ❁

शुभमस्तु

मिती अषाढ़ सुदी ८ सोमवार संवत् १९१४

'वेद वाणी वितानम्' के अन्य प्रकाशन

सभी पुस्तकों के लेखक— डॉ. सुद्युम्न आचार्य

१. अधिविज्ञानं दर्शनशास्त्रम् मूल्य— १२०/- रु. मात्र

भाषा-संस्कृत— यह भारतीय दर्शनशास्त्र तथा आधुनिक भौतिक विज्ञान विषय पर तुलनात्मक समीक्षात्मक, अपने विषय का अनूठा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है। यथास्थान चित्रों, चार्टों का भी उपयोग है।

२. रोचन्तां श[illegible] मूल्य— ४०/- मात्र

भाषा-संस्कृत, [illegible]। उ. प्र. [illegible]कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत— इसमें संस्कृत [illegible] शब्दों तथा उनकी [illegible]त्पत्तियों पर आधारित अ[illegible] [illegible]निबन्धों का संग्रह है।

३. राज[illegible] दर्शनांशवः मूल्य— ५०/- रु. मात्र

भाषा-संस्कृत, हिन्दी— इसमें भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान पर आधारित अतिरोचक निबन्धों का संग्रह है।

४. The glory of the vedas मूल्य— ८/- रु. मात्र

इसमें वेदों की प्रासंगिकता तथा इनकी बहुमूल्य विशेषताओं का अतिरोचक निबन्धों के अन्तर्गत वर्णन है।